साहित्यिकों के संस्मरण

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, साहित्यरत्न

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनाँक	सदस्य संख्या

साहित्यिकों के संस्मरण

संपादक

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक

प्रयाग पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १०००
१९४२
मूल्य १॥)

देवकुमार मिश्र द्वारा हिंदुस्तानी प्रेस,
बाँकीपुर, पटना में मुद्रित

निवेदन

मानव-हृदय को अतीत की मार्मिक स्मृतियाँ स्वभावतः मधुर और मादक लगती हैं। संभव है, इस रहस्य के मूल में विश्व के कार्य-कलापों की अनित्यता अथवा अस्थायित्व की भावना का अनुभव निहित हो। संयोग-वियोग के प्रिय-अप्रिय क्षणों की भावना-भरी अनुभूति में मानव-मन भावुक कवि और गंभीर दार्शनिक की भाँति निमग्न तथा तल्लीन होकर सत्य कल्पना के यथार्थ क्षेत्र में विचरण करने लगता है। सच्चे संस्मरणों का जन्म इसी भाव-भूमि पर पहुँच जाने के अनंतर होता है।

हिंदी में बहुत कम संस्मरण तल्लीनता और कल्पना-निमग्नता की मादक अवस्था में लिखे गये हैं। अधिकांश की रचना वर्त्तमान सभ्यता के थोथे शिष्टाचार का फल समझना चाहिए। नैतिक शिक्षा की ओर से आँख मूँदकर भी यदि हम देखें तो प्रमुख साहित्यिकों के जीवन की एक झाँकी इनमें अवश्य मिलती तथा वास्तविक अध्ययन में सहायता के साथ शिष्ट और संयत मनोरंजन भी इनसे होता ही है।

संस्मरण-लेखन की कला का हिंदी में अभी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। इसके मूल कारण की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अधिकांश लेखक कोरे शिष्टाचारवश, भावुकता और तल्लीनता-क्षेत्र के बाहर रहकर ही, संस्मरण लिख मारते हैं। पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पंडित मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने इस दिशा में

सराहनीय कार्य किया है। चतुर्वेदीजी हिंदी में इस कला के सबसे बड़े विशेषज्ञ और प्रचारक हैं ; उनके अधिकांश स्केच और संस्मरण सफल और सजीव हैं। 'वियोगी' जी भावुक कवि हैं, और अपने संस्मरणों में उन्होंने तल्लीनता के भावावेश में अपने व्यक्तित्व को भी प्रधानता दी है।

संस्मरणों की कला के विकास में प्रस्तुत संकलन से थोड़ी-बहुत सहायता मिलने की आशा है। यदि यह पूर्ण हुई और संस्मरण-लेखन की विविध शैलियों से परिचित कराने में इससे कुछ सहायता मिली, तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

अंत में, उन लेखकों को हम हृदय से धन्यवाद देते हैं जिनकी सुंदर कृतियों से यह संकलन तैयार हुआ है।

प्रेमनारायण टंडन

रानीकटरा, लखनऊ
८-१०-४२

विषय-सूची

साहित्यिकों के संस्मरण

राजा रामपाल सिंह

राजा रामपाल सिंह का नाम हिंदी-जगत् में सदा आदर से लिया जायगा। एक दिन था, जब हिंदी-भाषा-भाषी हिंदी-दैनिक दर्शन को तरस रहे थे। अन्य भाषाओं में दैनिक पत्रों की कमी नहीं थी; लेकिन भारत भर की राष्ट्र-भाषा—हिंदी में कोई भी दैनिक पत्र नहीं था—मासिक-साप्ताहिक तो कई थे। भारतेंदु की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका,' 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'वामा-बोधिनी', 'सुगृहिणी', 'आनंद कादंबिनी', 'भारतेंदु', 'धर्म-दिवाकर', 'पीयूष-प्रवाह' आदि मासिक और 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि', 'उचित-वक्ता' साप्ताहिकों के युग में कानपुर का 'भारतोदय' कुछ मास उदय होकर अस्त हो चुका था। राजा रामपाल सिंह ने अपनी प्रभुता, विद्वत्ता और हिंदी-प्रेम से विलायत में 'हिंदोस्थान' साप्ताहिक प्रकाशित करने के बाद कालाकांकर से पहले-पहल 'हिंदोस्थान' नामक दैनिक पत्र के दर्शन हिंदी-पाठकों को कराये। 'हिन्दोस्थान' का मोटो था—'सत्य श्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः'। यह सिद्धांत उन्होंने अपने पराक्रम से पूरा कर दिखाया।

सन् १८८३ ई० में पहले-पहल मैंने 'हिंदोस्थान' का दर्शन पटने में पाया था, जब मैं पटना नार्मल स्कूल में अध्ययन कर रहा था। राजा

साहब ने 'हिंदोस्थान' किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं निकाला था। वे हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए ही कार्य करते थे। कहा करते थे कि जिस दिन तक भारतवर्ष में एक आदमी भी दस रुपया साल देकर 'हिंदोस्थान' का ग्राहक रहेगा, उस समय तक 'हिंदोस्थान' भारत में जारी रहेगा। इसके लिये वे हजार रुपये मासिक व्यय करते थे। हिंदी के अनन्य प्रेमी थे वे। सन् १८८८ ई० में जब इलाहाबाद में नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था, माननीय राजा रामपाल सिंह का उसकी सफलता में बड़ा हाथ था। माननीय पं० अयोध्यानाथ, जो उस समय भारतीय राष्ट्र के अग्रगणी नेता थे, राजा रामपाल सिंह उनके दाहिने हाथ थे। देशी राज्यों में कांग्रेस का महत्त्व समझाने-बतलाने और उसका प्रचार करने के लिए माननीय पं० अयोध्यानाथ ने कालाकांकर-नरेश राजा रामपाल सिंह को ही चुना था। राजा साहब ने उसी तरह का काम भी करके दिखाया था। उन दिनों कांग्रेस का पूरा कार्य-विवरण राजा साहब ने हिंदी में प्रकाशित किया था। नेशनल कांग्रेस का वैसा विवरण आज तक कभी हिंदी में प्रकाशित नहीं हुआ। उस अधि-वेशन के प्रेसिडेंट जार्ज यूल थे, जिनका अभिभाषण राजा साहब ने हिंदी में छापकर अधिवेशन के पण्डाल में वितरित कराया था।

इन दोनों देवताओं को मैं पूज्य समझता हूँ। इन दोनों के कारण ही कांग्रेस का बल बढ़ा। वह बल इतना बढ़ा कि जब कांग्रेस के अधिवेशन में, उस समय के राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद कांग्रेस के विरुद्ध बोलने को उठे, तब पण्डाल का विरोध और कांग्रेस का जोश देखने योग्य था। वह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। अंत में उन्हें चुप होकर बैठ जाना पड़ा।

तात्पर्य यह कि राजनीतिक क्षेत्र में भी राजा साहब अवध के ताल्लुकदारों के शिरोभूषण हो रहे थे। राजा साहब राजनीतिक क्षेत्र में उस समय के प्रधान हो रहे थे। पं० अयोध्यानाथ, बा० गंगाप्रसाद वर्मा,

पं० मदनमोहन मालवीय सभी उनको सम्मान्य पद देते थे। राजा साहब जैसे राजनीतिज्ञ थे, वैसे ही सुप्रसिद्ध वक्ता और हिंदी के सुकवि भी थे। पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त विलायत से लौटे हुए महज्जनों में सर्वमाननीय व्याख्याता थे।

राजा साहब बड़ी विचित्र बात कहते थे। उनका कहना था कि अँगरेजों से मार खाकर जो हिंदुस्तानी अदालत में अपनी मान-मरम्मत के लिए दौड़ते हैं, वे बड़े मूर्ख हैं। उन दिनों रेलवे स्टेशनों पर, सदर सड़कों पर और पार्क आदि में कुछ उद्धतस्वभावी यूरोपियन हिंदुस्तानियों से बुरा व्यवहार कर रहे थे, जिनका समाचार अखबारों में छप रहा था। उसे पढ़कर राजा साहब कहते थे कि यूरोपियन हिंदुस्तानियों को जहाँ-तहाँ मार बैठते हैं और हिंदुस्तानी मार खाकर अदालत में मानहानि की नालिश करने जाते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। यूरोपियन की मार का जवाब मार से जो नहीं देते, उनको अपने प्रतिकार के लिए अदालत में हरगिज नहीं जाना चाहिये। यूरोपियन मार खाकर कभी भी अदालत नहीं जाते और न अपने मार खाने की बात कहते हैं।

इलाहाबाद के स्टेशन पर वे एक बार प्लैटफार्म पर टहल रहे थे। उनका सामान फर्स्ट क्लास में लद गया था। उनके नौकर सामान पर निगरानी कर रहे थे। एक यूरोपियन ने पहुँचकर जब सुना कि यहाँ राजा साहब का सामान है, तब उसने अपने नौकरों द्वारा नीचे उतरवाकर अपना सामान वहाँ रखवा दिया और राजा साहब के आदमियों को डाँटकर भगा दिया।

बात यह थी कि उस डिब्बे पर 'फॉर यूरोपियन्स' लिखा था। राजा साहब अपने सेवकों से समाचार पाकर जब कम्पार्टमेंट में आये, तब देखा कि साहब भीतर सवार हैं। राजा साहब की ओर छड़ी उठाकर उसने, जहाँ 'फॉर यूरोपियन्स' लिखा था, उस ओर संकेत किया। राजा साहब ने आव न देखा ताव, साहब को वहीं पछाड़कर खूब पीटा, और

नौकरों से उनका सब सामान हटवाकर अपना रखवा दिया, और साहब को नीचे उतार दिया। साहब को राजा साहब पहचानते थे; लेकिन साहब राजा साहब को नहीं पहचानते थे। ऐसी घटनाएँ विरल नहीं हैं। कई बार ऐसा होते देखा गया है। राजा साहब के कहने का अभिप्राय यह कि यूरोपियन लोग मार-पीट में मान-मरम्मत के लिए अदालत में दौड़ना ठीक नहीं समझते। आमने-सामने ही केस निबटा लेने पर वे नाराज नहीं, खुश होते हैं। उनकी समझ में, ऐसी बातों के लिए कचहरी दौड़ना कमजोर का काम है।

राजा साहब बात के बड़े पक्के और गुणग्राहक थे। वे शतरंज के बड़े खिलाड़ी थे। पहले-पहल जब वे इंगलैंड गये, उस समय वहाँ कमेटी बाजी लगाकर शतरंज खेलती थी। सबकी सलाह से जहाँ शतरंज बिछी थी, वहाँ एक पुतला बना था, जो मशीन से हाथ निकालकर शतरंज के मोहरे चला करता था। उसमें राजा साहब पहले दिन मात खा गये। लेकिन, दूसरे रोज वे दस हजार पौंड की बाजी जीते। तब से विलायत में उन्होंने फिर नहीं खेला।

राजा साहब शिकारी भी पक्के थे। बंदूक से बाघ मारा था और उस शिकार की कथा पद्य में रच डाली थी। खान-पान में बड़े लिबरल थे। इलाहाबाद के 'पायनियर', कलकत्ते के 'इंगलिश मेल', लाहौर के 'सिविल मिलिटरी गजट' और बम्बई के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के भारत-विरोधी लेखों का मुँहतोड़ जवाब 'हिंदोस्थान' के अग्रलेखों में देकर उनका अंग्रेजी रिव्यू भी अंग्रेजी साप्ताहिक 'हिंदोस्थान' के संस्करण में दिया करते थे। इलाहाबाद से 'पायनियर' और 'मार्निंग पोस्ट' दो अंग्रेजी दैनिक निकलते थे। इन ऐंग्लो-इंडियन पत्रों का सामना वे भली-भाँति किया करते थे। हिंदी-पत्रों के साथ उनकी बड़ी सहानुभूति रहती थी। 'हिंदोस्थान' का परिवर्तन सभी हिंदी पत्रों से करते थे। कोई पत्र-परिवर्तन के लिये आवे, वे उसको अपना 'हिंदोस्थान' जारी कर देते थे।

इतना ही किया था कि मासिक पत्रों को सात दिन का 'हिंदोस्थान' एक पैकेट में भेजा जाया करता था ; लेकिन छोटा पत्र भी परिवर्तन की नीति से विमुख नहीं जाता था। 'हिंदोस्थान' में उन्होंने एक स्वतंत्र स्तंभ खोल रक्खा था। उसमें सबके लेख उदारता से छापा करते थे। 'ने' 'की' 'से' आदि विभक्ति-चिह्न शब्दों से सटाकर लिखना या अलग रखना, इसपर पहले-पहल विवाद 'हिंदोस्थान' में शुरू हुआ था। लखनऊ में मान्यवर मित्र पं० शिवनाथ शर्मा, जो हास्य-रस के प्रथम हिंदी-लेखक थे, खड़ी बोली और व्रजभाषा कविता के विवाद में पं० प्रतापनारायण मिश्र के दाहिने हाथ थे। पं० श्रीधर पाठक से, जो खड़ी बोली के कवियों में कर्णधार थे, मिश्रजी का जब वाद-विवाद हुआ था, तब पं० शिवनाथजी मिश्र की विद्वत्ता का बड़ा आमोद पाठकों को मिला था। उस समय राजा साहब विद्वानों के लेख बड़े आदर से सुनते और उनपर अपनी सम्मति प्रदान करते थे।

राजा साहब एक बार उदयपुर कांग्रेस में दौरा करते हुए गये थे। वहाँ महाराजा साहब से मिलने गये। अंग्रेजी हैट-पैंट-नेकटाई ये सदा पहनते थे। महलों में मिलने के लिये जाते समय बराबर बूट पहने चले जाते थे। महाराज के यहाँ जब खबर पहुँची, उनके इशारे से इनके आगे इतना बढ़िया मखमल का फर्श बिछा दिया गया कि स्वयं राजा रामपाल सिंह ने खड़े होकर नौकर को बूट खोलने का इशारा किया और पापोश उतारकर ही उसपर पधारे।

महाराजा साहब जब पहले-पहल विलायत गये, उनकी अर्धाङ्गिनी महारानी साहिबा ने साथ चलने को कहा और अयोध्या से बिदा होते समय साथ चलने के लिये माता जानकी-जैसा ऐसा हठ किया कि राजा साहब इनकार नहीं कर सके। लेकिन, बम्बई में जहाज पर सवार होते ही उन्होंने भोजन त्याग दिया। अदन पहुँचते-पहुँचते उनका देहावसान हो गया। राजा साहब से वे मरती बेर कह गयी थीं कि मेरी अन्त्येष्टि गंगातट पर

ही की जाय। उसीके अनुसार अदन में उनका शव रक्षित रहा। जब लौटकर राजा साहब कालाकांकर आये तब शव को साथ लाकर उन्होंने आदेशानुसार ही अन्त्येष्टि क्रिया कराई थी। मुझसे उन्होंने एक बार रोकर कहा था—"गोपालराम, हमारी रानी रास्ते में नहीं मर जाती और विलायत तक साथ जाकर जीवित लौट आती, तो मेरी जीवनधारा दूसरी ही ओर होती।"

हिन्दुस्तानी रस्म के आप बड़े पक्षपाती थे। मैंने बभ्रुवाहन नाटक लिखा था, जो 'हिन्दोस्थान' में क्रमशः छपता रहा। वे यह नाटक सुनकर बड़े प्रसन्न होते थे। जैसे कवि और सुलेखक स्वयं थे, कवियों और सुलेखकों का सम्मान भी वैसे ही करते थे, जैसा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्वभाव में मिलता है।

—गोपालराम गहमरी

पं० प्रतापनारायण मिश्र

पं० प्रतापनारायण मिश्र हिंदी के उन थोड़े-से लेखकों में से थे, जिनका जीवन-वृत्तांत उतना ही रोचक है जितना उनका साहित्यिक कार्य। प्रायः लोगों की यह धारणा रहा करती है कि साहित्य-सेवियों का जीवन बड़ा शुष्क अथवा नीरस होता है; और, क्या बातचीत, क्या व्यवहार, सभी से कागज और स्याही की गंध निकला करती है। प्रतापनारायण ने इस विश्वास को पूरी तौर से निर्मूल सिद्ध कर दिया था। वे हिंदी, उर्दू, फारसी, अरबी, बँगला, संस्कृत तथा अन्य कई भाषाओं में दक्ष थे। और, अपने समय के तथा अपने ढंग के अच्छे लेखक थे। यही नहीं, अपने पत्र 'ब्राह्मण' के द्वारा उन्होंने हिंदी की अच्छी सेवा भी की। पर वे कोई लेखक नहीं थे। कानपुर में सभी प्रकार के लोगों से वे मिलते-जुलते रहते थे और अपने तथा दूसरों के दैनिक जीवन को आमोद-प्रमोद से रोचक बनाने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने अपनी एक नाट्य-समिति बना रखी थी, जिसके अभिनय वहाँ हुआ करते थे— जहाँ आज कानपुर का तार-घर है। वे स्वयं समय-समय पर स्त्रियों तक का पार्ट किया करते थे। ऐसे अवसरों पर बिना किसी संकोच के दाढ़ी-मूँछ भी भद्र करा डालते थे।

होली के दिनों में तो उनपर पूरी मस्ती सवार हो जाती थी। उस समय वे फूहड़ से फूहड़ कबीर अलापने में भी न हिचकते थे। एक बार की बात है, चौक बाजार के एक बड़े दूकानदार बाबू देवीप्रसाद खत्री को मिश्रजी ने कबीर गा-गाकर बहुत हैरान कर दिया। ज्यों-ज्यों देवीप्रसादजी का क्रोध बढ़ता गया, त्यों-त्यों मिश्रजी का कबीर का गाना भी जोड़ पकड़ता गया। मामला यहाँ तक बढ़ा कि दूकानदार ने शहर के कोतवाल से मिश्रजी की शिकायत कर दी। कोतवाल अली हसन प्रतापनारायण के पक्के दोस्त थे। उन्होंने उन्हें बुलाकर शिकायत का हाल कहा। दूसरे ही दिन मिश्रजी देवीप्रसाद की दूकान पर पहुँचे और अपना सिर झुकाकर उनके पैरों पर रखने लगे, और यह भी कहते जाते थे—"आप मुझे जूतों से मारिये।" देवीप्रसादजी को बड़ी शरम मालूम हुई और उनके मुँह से बात न निकली। मिश्रजी कई मिनट तक यही वाक्य दुहराते रहे। अंत में हँसी-खुशी सब झगड़ा तय हो गया।

वैसे ही जुल्फें रखाए, बालों में तेल चुचाहे, बाँकी टोपी सिर पर धरे तथा बड़ी नजाकत से कान पर हाथ रखे लोग उन्हें अक्सर कानपुर के खास-खास चौरास्तों पर लावनी गाते हुए देखा करते थे। उनके इस वेश से भला कौन समझ सकता था, वे सब गुणों से भरे होंगे?

धार्मिक विश्वास के मामलों में भी उनकी विलक्षण दशा थी। कभी तो वे कट्टर आर्य-समाजी की-सी बातें करने लग जाते थे और कभी घोर सनातन-धर्मी बन जाते थे। एक बार पं० दीनदयालजी शर्मा कानपुर में सनातन धर्म का प्रचार करने आये। एक सभा हुई। कई लोग बोले भी। जब प्रतापनारायण की बारी आयी तब उन्होंने बड़े करुण शब्दों में हिंदू-समाज की पतित अवस्था का उल्लेख किया और स्वाँग पूरा करने के लिए उन्होंने एक रूमाल आँखों में लगा लिया, जिसे घर से चलते समय उन्होंने इलायची के तेल में भिंगो लिया था। बस, फिर क्या था, उनकी आँखें डबडबा आयीं। श्रोताओं ने भी देखादेखी

करुणाजनक दृश्य उपस्थित कर दिया। सभा समाप्त होने पर शर्माजी ने नव-स्थापित सनातन धर्म-सभा का भार मिश्रजी के कंधों पर रखना चाहा। तब मिश्रजी बोले—"हम नहीं इस लीला में फँसते।" इतना कहना था कि लोग खिलखिलाकर हँसने लगे और उनके बहुरुपियेपन पर टीका-टिप्पणी होने लगी।

इस घटना से यह न समझ लेना चाहिये कि प्रतापनारायण एक साधारण मसखरे ही थे। सच तो यह है कि अधिकांश हिंदीवाले अब भी उन्हें मसखरा ही समझते हैं, और शायद यही कारण है कि उन्होंने मिश्रजी के साहित्यिक महत्त्व को समझने का प्रयत्न नहीं किया। मैं केवल दो ऐसी घटनाओं का उल्लेख करता हूँ, जिनसे यह भ्रम पूरी तरह से मिट सकता है।

यह तो सभी को ज्ञात होगा कि पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर कितने बड़े आदमी थे। एक बार मिश्रजी से मिलने के लिए वे स्वयं कानपुर में उनके घर पर पहुँचे थे। मिश्रजी, प्रसिद्ध है, एक छोटे-से कमरे में बैठते थे, जो कागजों और अन्य बिखरी हुई चीजों से भरा रहता था। सन् १६२७ में मैंने उसे देखा था। विद्यासागर वहीं उनसे मिलने गये थे। कहते हैं कि लगभग दो घंटे तक मिश्रजी ने उनसे धारा-प्रवाह बँगला में वार्त्तालाप किया। इस प्रसंग में एक बड़ी रोचक बात सुनी है वह यह कि विद्यासागरजी के जलपान के लिये मिश्रजी ने बाजार से दो पैसे के पेड़े मँगवाये थे। इस बात पर जितना ही सोचते हैं, उतनी ही हँसी आती है।

इलाहाबाद की कांग्रेस में प्रतापनारायण कानपुर से प्रतिनिधि बनकर गये थे। एक दिन वे जब अपने तंबू के बाहर खड़े थे, कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम साहब उधर से निकले। मिश्रजी ने उन्हें नमस्कार किया। ह्यूम साहब ने ज्योंही इन्हें देखा, त्योंही बड़े प्रेम से छाती से लगा लिया और कुशल-प्रश्न करने लगे। बताइये, ह्यूम साहब-जैसे

बड़े आदमी जिस पुरुष से ऐसे प्रेम से मिलें और ईश्वरचंद्र-जैसे विद्वान जिसके घर पर मिलने आयें और उसके दो पेड़ों का जलपान स्वीकार करें, वह कोरा मसखरा कैसे हो सकता है ?

मेरे पिताजी एक बार मिश्रजी से मिलने गये। मिश्रजी ने यह भलीभाँति जानते हुए भी कि वे बाजार की अन्न की मिठाई नहीं खाते, उनके जलपान के लिये जलेबियाँ मँगवायीं। जब वह आ गयीं, तब मिश्रजी ने नौकर को बहुत फटकारा और कहा—"तू बड़ा शैतान है। मैंने कब तुझसे जलेबी लाने को कहा था ? जानता नहीं, ये अन्न की मिठाई नहीं खाते ?" यह भी प्रसिद्ध है कि उनके लिखे हुए जितने लेख प्राप्त हैं, वे उनके हाथ के लिखे नहीं हैं। मिश्रजी अव्वल दर्जे के काहिल थे। इसीसे उनका यह नियम था कि जब कोई उनके पास आ जाता, तो चट उसे कागज-कलम दे देते और पूरी बेगार लेते ; उसी समय जो विषय उनके ध्यान में आता, उसी पर लेख बोलना आरंभ कर देते थे।

— **रमाकांत त्रिपाठी**

रायबहादुर लाला सीताराम

पुरानी बातें भूल जाने में फायदा तो जरूर है; पर यह अभ्यास की बात होती है। कभी-कभी उन्हें याद करके कुछ राहत भी मिलती है। स्मृति के संग्रहालय में १८ वर्ष पहले के चित्र अब बहुत कुछ धुँधले हो गये हैं; पर कुछ ऐसे हैं जो धुँधले हो-होकर भी बने हैं। उनमें से कुछ ये हैं—

शहर से बीस मील दूर एक देहात का स्कूल; गज-गज भर चौड़े, नौ-नौ गज लम्बे टाट के टुकड़े; काठ की छोटी-छोटी पट्टियाँ और उन्हें चमकाने में कालिख से पुत गये अपने हाथ और गाल; हाथ में हर वक्त बाँस की हरी पतली छड़ी लिये, पलटन का नीलामी लम्बा-चौड़ा कोट पहने, बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले मास्टर साहब; और रोज एक साथ खड़े होकर कही जानेवाली—'हे प्रभो! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिये' वाली प्रार्थना।

उस समय अरिथमेटिक और जबान की पढ़ाई में बहुत मन लगता था। महीने-दो महीने में भी शायद कोई सवाल गलत होता हो। किताब के अधिकांश सवालों की इबारत तक याद थी। आज स्मृति के खजाने

में वे सब गुम हैं। पर, उस समय जो एक चीज याद थी, वह आज भी ज्यों की त्यों याद है। जबान की किताब में एक कविता थी। वह हमारे स्कूल के सभी लड़कों के जबान पर थी। मुझे उस कविता के नाते उसके नीचे लिखे उसके लेखक के नाम से भी कुछ अनुराग-सा हो गया। उस नाम की छपाई के अक्षर जैसे आँख के भीतरी पर्दे पर अब भी अंकित हों। उस नाम का आगे दूर तक साथ रहा। मेरी उम्र के लाख-लाख बच्चों ने उस कविता को पढ़ा होगा; पर तब से लेकर अब तक पढ़ते पढ़ते चले जाने का सौभाग्य या दुर्भाग्य उन सबको तो रहा न होगा। फिर भी हजारों को उसकी लाइनें सुदूर न जाने कितने-कितने गाँवों में अब भी याद होंगी। उसकी प्रथम लाइन यह थी—

बैरगिया नाला जुलुम जोर, तहँ रहत साधु के भेस चोर।

उन्हीं दिनों महावीरप्रसाद, मैथिलीशरण, रामचरित, लोचनप्रसाद, इन नामों से भी परिचय हुआ था; पर मुझे यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि प्रथम दो नामों को छोड़कर बाकी नामों का 'बैरगिया नाला' के लेखक-सा दूर तक निकट का संसर्ग नहीं रहा। इसके स्पष्ट कारण भी थे।

आज से १२ वर्ष पहले अंग्रेजी स्कूल में मैं सातवें दर्जे का विद्यार्थी था। उस समय के चित्र बहुत कुछ स्पष्ट हैं। कम से कम हेडमास्टर साहब के गुस्से के समय के काँपते होंठ और लाल-लाल कान तो शायद ही कभी भूलेंगे।

हमारी किताब में लाला सीताराम, बी० ए० की लिखी 'अज-विलाप' शीर्षक एक कविता थी। उसकी पहली लाइन—'अहह फूलहू के तन लागत, है जो विवस प्रान नर त्यागत' तो अब भी याद है। उस कविता में रानी के मर जाने पर राजा अज के शोक का वर्णन था। राजा लोगों को अनेक रानियाँ होती हैं और एक-दो घट ही गयीं तो क्या!

पर, उस कविता के अज कुछ और ही राजा जान पड़े। उस समय पहली बार जान पड़ा कि पत्नी के मर जाने पर पुरुष की क्या दशा होती होगी। (उस समय हरिहरलाल हमारे साथ पढ़ते थे। हम-वे पास-पास बैठते। वे इस कविता को अनेक चित्रों के रूप में समझते और मुझे समझाते थे। मैं उनकी चित्रकला की अनुरक्ति को प्रोत्साहित करता। मालूम नहीं, अज-विलाप पर मेढ़जी ने कोई चित्र बनाया या नहीं; पर 'अज-विलाप' की मेरी याद ज्यों की त्यों बनी हुई है। और अब तो कभी फिर से उसे पढ़ने की इच्छा होती है।) बाद को मालूम हुआ कि लालाजी ने रघुवंश का हिन्दी-पद्यों में अंशतः अनुवाद किया था और यह उसीका एक अंश था। लालाजी ने कालिदास के और कई ग्रन्थों का अनुवाद किया था और व्यंग्य में उन्हें 'हिन्दी-कालिदास' की उपाधि मिली थी।

सन् १९३० में बनारस के क्वीन्स इंटरमीडियेट कालेज की लाइब्रेरी में लाला सीताराम की लिखी शेक्सपियर के कई नाटकों की हिंदी-अनुवाद की एक पुस्तक देखी। उस समय मालूम हुआ कि रायबहादुर लाला सीताराम डिप्टी कलेक्टर रह चुके हैं और अब प्रयाग में शान्त-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हिन्दुस्तानी अफसरों में दायरे के बाहर जाकर काम करने की अपेक्षाकृत अब भी कमी है। लालाजी की इस संबंध में विशेषता थी।

यूनिवर्सिटी के दिनों पर तो जैसे अभी सिर्फ एक ही रात का पर्दा हो। यूनिवर्सिटी के अपने एम० ए० के कोर्स में देखा तो वहाँ भी लाला साहब मौजूद थे। कलकत्ता-यूनिवर्सिटी से छपी लालाजी की कई किताबों में से एक हमें पढ़नी थी। और पढ़ाते थे पंडित देवीप्रसादजी शुक्ल। एक दिन लालाजी पर बात छिड़ी। जिन दिनों वे डिप्टी कलेक्टर थे, एक मुकदमा कर रहे थे। अभियुक्त ने अपना मुकदमा कमजोर समझकर डिप्टी साहब की भावुकता को प्रेरित करना चाहा।

कवि का सबसे कमजोर पहलू उसका कविपन होता है। कविता के कोड़े से चाहे उसे मार दीजिए, वह बुरा न मानेगा। अभियुक्त ने अपने बयान के बाद डिप्टी साहब को सम्बोधित कर एक दोहा कहा। डिप्टी साहब ने फैसला दिया और दोहे का जवाब भी दोहे में। उन्होंने अपराधी को कैद की सज़ा कर दी। वे ऐसे कवि तो थे नहीं।

उस दिन के प्रसंग ने नाम से रूप की ओर प्रेरित किया। एक परिचित मित्र से पत्र लेकर मैं लालाजी से मिलने गया। मकान के खास सड़कवाले दरवाजे की दाहिनी ओरवाली छोटी कोठरी में हमलोग बैठे। लालाजी ने पहले देर तक हमारे संबंध में पूछा। फिर हमारे मित्र के संबंध में बोले—"वे हमारे दोस्त हैं।" असल में हमारे मित्र के पिता लालाजी के दोस्त थे और उसी नाते उनकी पहचान हुई थी; पर बाद में साहित्य-प्रेमी होने के कारण लालाजी ने उन्हें भी अपना निजी दोस्त बना लिया था। इस कारण उनकी पहचान में पिता का दोस्त होने की बुजुर्गियत से अधिक निजी दोस्ती की मात्रा थी। जिस समय हम बातें कर रहे थे, एक चपरासी एक बड़ा पैकेट लेकर आया। लालाजी उसे लेकर उठ पड़े। गली में से होकर पिछवाड़े के फाटक से हम मकान के दूसरे हिस्से में आये। मुझे कुछ-कुछ याद आता है, एक छोटा-सा आँगन है। वहाँ शाम तक हम लोग साहित्य के अनेक अंगों और व्यक्तियों के संबंध में बातें करते रहे। धीरे-धीरे अँधेरा हो गया। मैं लालाजी से विदा लेना चाहता था, पर वे अभी जैसे और बातें करना चाहते थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण, राजा शिवप्रसाद आदि के संबंध की अनेक व्यक्तिगत बातें उन्होंने कहीं। मालूम पड़ता था, जैसे उस संध्या को लालाजी फूट पड़े थे और जैसे बहुत दिनों के बाद उन्हें कोई सुननेवाला मिला था। उनकी बातों से मैंने थोड़ी ही देर में समझ लिया कि साहित्य के सम्बन्ध में भी उनके निर्णय बिलकुल डिप्टी कलेक्टराना थे। वे बातें दो-टूक कह देते थे और आगे बढ़ जाते

थे। जब मैं थोड़ी देर चुप रहता तब वे कोई नयी बात छेड़ देते।

उनसे थोड़ी ही देर बातें करने के बाद उनके व्यक्तित्व के संबंध में कई खास बातें प्रत्यक्ष हो जाती थीं। मुझे लालाजी से एक बार और देर तक बातें करने का अवसर मिला और उस समय भी प्रथम वार्तालाप के समय के विचारों की पुष्टि हुई। लालाजी को नौकरी के सिलसिले में कई स्थानों में रहना पड़ा था। अपने समय के विशेष लोगों से उनका निजी संपर्क भी रहा था। इस कारण उन्हें अनेक ऐसी बातों की जानकारी थी, जो वर्तमान हिन्दी-साहित्य का इतिहास समझने-वाले के लिये बहुत ही अमूल्य थीं। मुझे पूरा यकीन है कि यदि लालाजी ने १९वीं शताब्दी के अन्तिम अर्धांश के हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा होता, तो उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में उसका एक विशेष स्थान होता। भारतेन्दु के मरने पर उनके पत्र में अनेक कवितायें छपी थीं, परन्तु उनके संबंध में लिखी गयी सबसे अधिक प्रसिद्ध होनेवाली कविता लालाजी की ही लिखी थी। यह लालाजी ने मुझसे कहा था। जब वे पिछली बातों का जिक्र करते, तब एक चित्र-सा खड़ा कर देते, और जहाँ तक उन बातों से उनका संबंध रहा होता, उसका भी जिक्र करते। स्पष्ट मालूम पड़ता था कि जहाँ भी वे रहे होंगे, पहली ही लाइन में उनकी गम्भीरता और सूक्ष्मता के आगे लोगों को उनके सामने नत होना पड़ता रहा होगा, और कदाचित् उन्हें अपना अग्रसर करने में लोगों को आनन्द और सन्तोष भी होता रहा होगा। ये बातें उनकी ओर से तनिक भी ध्वनित नहीं होती थीं। सच बात तो यह है कि उनके मुँह से मैंने किसी की भी बहुत तारीफ नहीं सुनी। कुछ लोगों का कहना है कि लालाजी स्वयं अपनी बहुत तारीफ करते थे। उन्होंने हिंदी के कई 'महारथियों' का नाम लेकर मुझसे भी कहा था कि मैंने इन सब लोगों से अधिक हिन्दी की सेवा की है। 'मैंने हिंदी को एम० ए० का कोर्स बना दिया है।' [पर मुझे तो इन बातों में

आत्मश्लाघा का भाव मिला नहीं, अपितु ये बातें तो ऐसी ही हैं, जैसे दिन भर कोई आपका काम करे और जब शाम को आपके दरवाजे से गुजरे कि मजदूरी चाहे आप दें या न दें, एक मुस्कुराहट से उसका मन तो जरूर भर दें, तब आप मुँह फेर लें और कहें, जाओ तुमने काम ही क्या किया है। रह गयी हिन्दी के एम० ए० के कोर्स के बनाने की बात, सो तो यह स्पष्ट ही है हिन्दी का एम० ए० सबसे पहले कलकत्ता यूनिवर्सिटी में प्रारंभ हुआ। सर आशुतोष मुकर्जी ने कोर्स बनाने का काम लालाजी को ही सौंपा था। लालाजी ने मुझसे कहा था कि सर आशुतोष उनसे आकर मिले थे। बनारस में सर आशुतोष के परिचित लोगों से उनके संबंध में जो कुछ सुना है, उसके अनुसार सर आशुतोष-जैसे महान् व्यक्ति का ऐसा करना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात जो है वह यह कि लोग परिस्थितियों का विस्मरण कर लालाजी के कार्यों पर पर्दा डाल दें और उनकी उचित बातों को उनकी आत्मश्लाघा समझें। इसमें सन्देह नहीं कि लालाजी अपना कार्य कर चुके थे; पर जिस समय उन्होंने हिंदी को अपनाया था, तब उनकी परिस्थिति के लोग हिंदी में कुछ लिखना अपमान समझते थे। उस समय वर्तमान हिंदी-साहित्य की नींव डाली जा रही थी। कुछ दिन बाद लालाजी की गणना महान् स्तंभों में चाहे भले ही न हुई हो, पर नींव की वह ईंटें जिनपर हिन्दी का भव्य-भवन उठाया जा रहा है, अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। इस संबंध में लालाजी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। इतना ही नहीं, सच तो यह है कि हिन्दी की वर्तमान गति भी लालाजी के विचारों के प्रतिकूल नहीं थी। जिन थोड़े लोगों पर हिंदी और उर्दू दोनों का समान विश्वास हो सकता है, लालाजी उनमें से एक थे। कहें, तो कह सकते हैं कि लालाजी शुरू से अन्त तक ठीक पथ पर रहे और यह उनके साहित्यिक जीवन की एक विशेषता थी। अस्तु।]

उस अवस्था में भी वे कितने अथक उत्साह और सब्र से बातें कर रहे थे। थोड़ी देर के बाद वे उठकर बोले—"चलिए, रोशनी में चला जाय।" हम लोग सहन के पूरबवाले कमरे में आये। वहाँ उन्होंने वह पैकेट खोला। उसमें बहुत-सी किताबें थीं, जो कहीं से रिव्यू के लिए आयी थीं। बाद में लालाजी ने बतलाया कि वे कहाँ से आयी थीं। लगभग नित्य ही उनके पास उतनी किताबें आया करती थीं और उन्हें गवर्नमेंट के लिए उनकी रिव्यू लिखनी पड़ती थी। वे उन दिनों एक किताब भी लिख रहे थे*। पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके लेख छपते रहते थे। इस अवस्था में इतना काम! लालाजी सचमुच ही एक बड़े योद्धा थे, जो अपने विचारों को लिये बड़ी धीरता और संयम से आगे बढ़ते जा रहे थे। किताबों के उलटते-पलटते वे एक किताब से रुक गये। बोले—"यह लीजिये। यह मेरे एक मित्र की लिखी किताब है। मुझे मालूम था कि उन्होंने एक किताब लिखी है; पर उन्होंने मेरे पास नहीं भेजी थी। यह अपने आप ही आ गयी।" थोड़ी देर के लिये उस किताब में डूब गये। मैं उस दर्मियान यह सोच रहा था कि यदि इनके पास कई बार आकर इनके संस्मरण लिख लिये जायँ, तो एक बात हो। लालाजी ने जब उस किताब से आँख उठायी, तब मैंने यह प्रस्ताव रख दिया। फिर इसी पर बातें होने लगीं। लालाजी ने उस समय यह भी कहा था कि मैं इन दिनों रामबाग के पास मन्दिर बनवा रहा हूँ। शाम को अक्सर वहीं रहता हूँ। उस समय एक छोटे बच्चे को उँगली से पकड़े एक सज्जन उनके पास आये। लाला जी ने सिर्फ 'हाँ-नहीं' में उनसे कुछ सेकेंड बातें कीं। वे खड़े-खड़े चले गये। लालाजी ने बतलाया, कि वे उनके लड़के हैं। मालूम नहीं, मेरा अनुमान कहाँ तक ठीक है. पर ऐसा जान पड़ा कि लालाजी लड़कों से बहुत अधिक बातें करने के

---

*संभवतः अयोध्या का इतिहास।—लेखक।

कायल नहीं थे। मुझे इसपर कुछ आश्चर्य भी हुआ, क्योंकि मेरी उम्र के तो उनके पुत्रों की सन्तानें भी होंगी, पर मुझसे थोड़ी ही देर में वे ऐसे घुल-मिल गये थे, जैसे मेरी उनकी बहुत दिनों की जान-पहचान थी।

कुछ दिन बाद।

नया साल शुरू ही हो रहा था। कान्यकुब्ज-इंटरमीडियट कालेज, लखनऊ, का मैदान। टेन्ट। अँगीठी। चाय की प्यालियाँ। सुबह ८ बजे। इलाहाबाद से गया ताजा लीडर। सबसे चुभती खबर थी, लाला सीताराम की मृत्यु की। मुझे कुछ स्मरण हो आया। दूसरी और अन्तिम बार जब मैं लालाजी से मिला था, तब उन्होंने मुझे तुलसीदासजी की एक तसवीर दी थी और उसके नीचे, जिस फाउन्टेनपेन से मैं यह लेख लिख रहा हूँ, इससे, 'श्रीअवधवासी सीताराम' लिख दिया था। मैंने लखनऊ से वापस आने पर अपनी चिट्ठी-पत्री में उसकी खोज की ; पर वह न मिली। कल वह अकस्मात् हाथ लग गयी। उसकी पुश्त पर उस दिन की नोट की हुई दो-एक बातें और मिलीं।

सितम्बर सन् १९३५ में एक दिन बनारस के तत्कालीन शहर-कोतवाल खाँबहादुर चौधरी नबी अहमद साहब से कुछ अन्य बातों के अतिरिक्त साहित्यिक-चर्चा भी रही। उन्हीं दिनों नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, के दफ़्तर में एक चोरी हो गयी थी और कला-भवन के कुछ अमूल्य चित्र गायब हो गये थे। तुलसीदास के चित्र के सम्बन्ध में चौधरी साहब ने जिक्र किया कि नागरी-प्रचारिणी सभा का चित्र उस चित्र से भिन्न है, जो इलाहाबाद में उन्होंने रायबहादुर लाला सीताराम के पास देखा था। मैंने लालाजी के पासवाला चित्र देखना चाहा। मैं ८ आक्टोबर सन् १९३५ को लालाजी से मिला। पहली बार और इस बार की मुलाकात में काफी दिनों का अन्तर पड़ चुका था ; इसलिए मुझे अपना परिचय देना पड़ा। इस दर्मियान में लालाजी मेरे नाम से

परिचित हो चुके थे। 'विशाल भारत' में मेरी तिब्बत-यात्रा के लेख वे पढ़ चुके थे। तिब्बत के संबंध में उन्होंने बहुत-सी बातें पूछीं। फिर महन्त राहुल सांकृत्यायन के संबंध में पूछा। बोले—"मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि बुद्ध का अयोध्या-गमन हुआ था ; पर सांकृत्यायनजी बुद्ध-चर्चा में लिखते हैं, नहीं। अब जब वे इलाहाबाद आवें तो मुझे उनसे जरूर मिलाइये।"* इस अवस्था में विद्या से यह लगन ! यह लालाजी के जीवन की एक विशेषता थी। और जब उन्होंने यह कहा—"मुझे बतलाइएगा। मैं उनके पास चलूँगा और अपने मोटर पर उन्हें अपने घर लिवा लाऊँगा।"—तब मुझे लालाजी की विशेषता का और घना परिचय मिला। एक कट्टर सनातनधर्मी के लिये फिर से बौद्ध-संस्कृति के प्रसार के लिये मर-मिटनेवाले बौद्ध-भिक्षु के प्रति इतना सम्मान-भाव रखना बड़प्पन की निशानी है।

मुझे तो लालाजी के व्यक्तित्व का सबसे अमूल्य अंश यही जान पड़ा। आजकल बड़े पाये के भी लोग संस्कृति-विहीन हैं। लालाजी में संस्कृति थी ऊँचे पैमाने की। और संस्कृति-युक्त होना आजकल के शिक्षित भारतीय के लिए एक महान् भाग्य की बात है।

चित्र के संबंध में बात आने पर लालाजी ने नागरी-प्रचारिणीवालों से अपनी बड़ी खीझ प्रकट की। बोले—"देखो न, इन सबों ने हमारे तुलसी को मूँड़कर अपना तुलसी बना लिया है।"—लालाजी के और सभा के तुलसी के शरीर, कुशासन, माला और बैठने के ढङ्ग में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक के तुलसी के दाढ़ी-

---

*सन् '३५ के नवम्बर के शुरू में ही मैं गवर्नमेंट हाई-स्कूल, देवरिया में काम करने चला गया। सन् '३६ की गर्मियों में जब प्रयाग लौटा, तब सुना कि राहुलजी तीसरी बार फिर ल्हासा पहुँच गये हैं। इस वर्ष जनवरी में एक दिन के लिये राहुलजी प्रयाग में थे ; पर लालाजी नहीं रहे! अतः, लालाजी की राहुलजी से मुलाकात नहीं हो पायी। —लेखक

मूँछ और जटा है और दूसरे के तुलसी इससे रहित हैं। लालाजी का कहना था कि सभावालों ने उन्हीं के तुलसी को अपना लिया है। पर तुलसी के ले लिये जाने का उतना अफ़सोस नहीं मालूम पड़ता था, जितना उनके मूँड़े जाने का। मुझे तो इस प्रसंग में प्रायः विनोद जान पड़ा, यद्यपि वह वैसा ही हलका और दबा-सा था, जैसा सदैव लालाजी का हास्य होता था।

यद्यपि देखने में लालाजी इस बार भी पहले की ही तरह स्वस्थ थे ; पर मुझे अच्छी तरह याद है कि इस बार जब मैंने उन्हें देखा था, तब उनकी तबीयत जैसे कुछ गिरी हुई-सी थी। वे उन दिनों घर में बिलकुल अकेले रह रहे थे। केवल उनका नौकर साथ था ; पर उनका कहना था कि अपनी किताबों के साथ अकेले रहने की उनकी आदत-सी हो गयी है। भोजन के संबंध में भी वे पराधीन नहीं थे। बहुत दिनों से वे स्वास्थ्य-रक्षा के लिये दलिया पर ही गुजर कर रहे थे, जिसे वे स्वयं आसानी से पका लिया करते थे। लालाजी ने मुझसे बतलाया था कि उन्हें मालूम नहीं कि उन्होंने आम कब खाया था। आम उनके मुवाफिक नहीं पड़ता था। पिछले आठ महीनों में संसार के सबसे प्रिय प्राणियों को खोकर मृत्यु की निकटता का जितना बोध अब हुआ है, उतना उस समय नहीं था। लालाजी का स्वास्थ्य और स्वास्थ्य-रक्षा के लिये उनका संयम देखकर यही मालूम पड़ता था कि उन्हें कम से कम अभी २० वर्ष और जीना चाहिये, नहीं तो उसी दिन मैं वह सब बहुत कुछ बातें पूछ और लिख लेता जो सदा के लिये उनके साथ चली गयीं। अफ़सोस तो यह है कि उस दिन उनके प्रारंभिक जीवन के संबंध में मैंने जो दो-एक बातें लिख भी ली थीं ; पर उनका ठीक प्रसंग नहीं आ पाता।—"राय मिट्ठूलाल—पूर्वपुरुष—(४,०००)—अलफ्रेड पार्क—६८४) वार्षिक—। १५८६ के लगभग—२ वर्ष बाद वीरबल—गंगादास पुत्र महेशदास। मुंशी कालीप्रसाद

कुलभास्कर—१८७६-८६" का तारतम्य मैं बिलकुल नहीं लगा सकता।

सन्ध्या करीब थी और हमलोगों के उठने का समय पास आता जा रहा था। चलते-चलाते जब कुटुंब पर भी कुछ बातें आयीं, तब लालाजी ने बतलाया कि उनकी सहधर्मिणी जा चुकी हैं। वे कहने को तो यह बात बहुत अविचलित भाव से कह गये थे; पर कुछ पुरानी दुखदायी स्मृतियों के बिलकुल करीब पहुँचा जानकर अपने को सँभालने के लिये ही शायद यह शेर कहकर उस प्रसंग को बदल दिया—

सब बलायें हो चुकीं, 'गालिब' तमाम,
एक मर्गे नागहानी और है।

समय ने बतला दिया कि लालाजी ने ठीक कहा था। 'मर्गे नागहानी' सचमुच ही उनके लिये आखिरी बला रह गयी थी, जिसे थोड़े ही दिनों के बाद उन्होंने उसी खूबसूरती के साथ झेल दिया जैसे और बलाओं को। उस दिन लखनऊ में 'लीडर' पढ़ने के बाद भी मुझे उनका कहा यह शेर याद हो आया था, और आज भी याद है।

—राजनाथ पांडेय

पं० नाथूराम शंकर शर्मा

कविता-कामिनी-कान्त पं० नाथूराम शंकर शर्मा का मेरा परोक्ष परिचय सन् १९१४ में हुआ था। उन दिनों स्व० कविरत्न सत्यनारायणजी उनकी कविताओं का बड़े अनुरागपूर्वक बखान किया करते थे। कविरत्नजी की पाठ्यशैली अपूर्व थी, वह 'शंकर'जी महाराज की कविताओं में स्वर्ण-सुयोग उत्पन्न कर देती थी। सत्यनारायणजी के प्रेम-रस-पगे वे शब्द आज भी कानों में गूँज रहे हैं। हम लोग तत्कालीन 'आर्यमित्र'-सम्पादक श्री सर्वानन्द (पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी) अथवा तब आगरा-कालेज के विद्यार्थी द्वय—पं० श्रीकृष्णदत्त शर्मा पालीवाल या पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा—के यहाँ एकत्रित हुआ करते थे। शंकरजी का 'अनुराग-रत्न' इन दिनों छपकर प्रकाशित हो चुका था। हिन्दी-जगत् में उसका हार्दिक स्वागत हुआ था।

सन् १९१६ में 'सर्वानन्दजी' के चले जाने के बाद श्री हरिशंकरजी शर्मा 'आर्यमित्र' के सम्पादक नियुक्त होकर आये। १९१७ में मैं भी 'आर्यमित्र' में पहुँच गया।

भाई हरिशंकरजी के सत्संग से तो शंकरजी का प्रत्यक्ष से अधिक परिचय प्राप्त हुआ। हरिशंकरजी उन दिनों प्रायः प्रति सप्ताह कविरत्नजी

से कुछ-न-कुछ लिखा लिया करते थे। छोटी-बड़ी कोई न कोई कविता 'आर्यमित्र' के प्रायः हर अंक में छपा करती। इसका कारण केवल शंकरजी का उत्कट पुत्र-प्रेम था। उनका यह पुत्र-प्रेम तो पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। प्रतिदिन तीसरे पहर की डाक से हरदुआगंज से कविजी का कुशल-प्रश्न-सम्बन्धी कार्ड से बिला नागा आ जाता, और हरिशंकरजी का प्रातः उठते ही पहला काम उस पत्र का उत्तर देना होता। यदि उत्तर देने में एक दिन की भी देर हो जाती और शंकरजी को हरिशंकरजी का कार्ड दूसरे दिन न मिलता, तो उसी दिन तार आ जाता। यह नित्य-नियम था, जिसका कविजी के अन्त तक पालन हुआ।

शंकरजी की कविताओं में मेरी आस्था इसी अवसर पर दृढ़ हुई—मैं प्रेमी से उनका भक्त बना। शंकरजी के व्यक्तित्व के प्रति भी, उनकी अनुपम निस्पृहता, ज्वलन्त देश-प्रेम और हार्दिक कोमलता के कारण श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनकी आदर्श त्यागवृत्ति के सम्बन्ध में उस समय एक तथ्य के—जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा—ज्ञात होने पर तो वह मेरे हृदय में और भी सुदृढ़ हो गयी। कवि तो क्या, आज तो बड़े-बड़े 'धर्म-धुरन्धरों' तक में इस गुण का आभास नहीं मिलता।

सन् १९१८ में मैं साप्ताहिक 'ब्राह्मण-समाचार' का सम्पादक नियुक्त होकर जगाधरी चला गया। वहाँ मैंने 'ब्राह्मण-समाचार' का 'हिन्दी-विशेषांक' निकालने का आयोजन किया। शंकरजी महाराज से भी मैंने कविता के लिए प्रार्थना की। वह अंक तो इस समय मेरे समक्ष नहीं है; लेकिन मुझे खूब स्मरण है कि शंकरजी ने तत्काल मेरे निवेदन को स्वीकार किया था। यह केवल उनकी कृपा के कारण था; अन्यथा शंकरजी शीघ्र ही कुछ लिख देने की परवा कभी नहीं करते थे। उन्हें यशप्राप्ति की किंचित भी चिंता न थी। वे 'स्वान्तः सुखाय' लिखा करते थे।

१९२५ ई० के फरवरी मास में मथुरा में दयानन्द जन्म-शताब्दी का बड़ा मेला हुआ। इस उत्सव में देश भर से विविध वृत्तियों के व्यक्ति इकट्ठे हुए थे। कुछ साहित्यिकों ने इस अवसर पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया। शंकरजी इस सम्मेलन के सभापति हुए थे; इसलिए उपस्थित जनता में बड़ा उत्साह था।

शंकरजी के साक्षात् दर्शन मैंने यहीं किये। इससे पूर्व मैंने 'कविता-कलाप' में उनका चित्रमात्र देखा था। बिना बताये ही शंकरजी को पहचान लेने में मुझे बिलकुल दिक्कत नहीं हुई—वही बन्द कालर का कोट, गले में रूमाल बँधा हुआ, सिर पर साफा, कवि-सुलभ कोमलता लिये हुए बुजुर्गाना गम्भीर मुद्रा। इस सम्मेलन में, शताब्दी में आये हुए दूर-दूर के साहित्यिक और आर्यसमाजी विद्वान् उपस्थित थे। कविता-पाठादि के उपरान्त सभापति महोदय से कुछ सुनाने के लिए प्रार्थना की गयी। इसपर शंकरजी के भक्त अजमेर के तत्कालीन राजनीतिक कार्य-कर्त्ता स्वामी नृसिंहदेव सरस्वती ने उत्साहपूर्वक उनकी प्रसिद्ध होली सस्वर गाकर सुनायी। शंकरजी की रचना, ब्रजभाषा का संपुट, स्वामीजी का मधुर कण्ठ—रंग बरसने लगा। रसिक-समुदाय सराबोर हो गया। होली की एक-एक कड़ी स्वामीजी को कई-कई बार गानी पड़ी। शंकरजी की इस होली ने ही रसिकजनों की तृप्ति कर दी।

उस होली को यहाँ उद्धृत करने के लोभ को मैं संवरण नहीं कर सकता। आरत-भारत के विषय में ऐसी चुस्त-चुभती हुई ठठोली कहना शंकरजी-जैसे भरे-पूरे कवि का ही काम है। भारत-दर्शन के किसी सामाजिक-राजनीतिक पोथे को शंकरजी की इस रचना के साथ तोल लीजिये। उस ग्रन्थ को समझने के लिए पाठक में विज्ञता-विद्वत्ता चाहिए; लेकिन इस रचना का तो अक्षर-अक्षर एक साधारण श्रोता के घट में भी होली के केसरिया घूँट की भाँति उतरता चला जाता है। लीजिये, आप भी उसका रसास्वादन कीजिए—

दई मारे भारत होरी है ! दई मारे०
तू अति रंक विलायत रानी, तू कारो वह गोरी है । दई मारे०
तू दारिद्र्य-तेल को पीपा, वह सुख-रस-भरी कमोरी है । दई मारे०
तेरी पाग-पिछौरी मैली, वह गौन-गसी रँगबोरी है । दई मारे०
वा की माया तोहि नचावे, तू कठपुतरा वह डोरी है । दई मारे०
अपनो रुधिर आप तू पीवे, उन सबकी तीत निचोरी है । दई मारे०
तू बूढ़ो बलहीन भिखारी, वह सबला पीन पठोरी है । दई मारे०
तू आलस-ऊजड़ को उल्लू, वह साहस-चंद्र-चकोरी है । दई मारे०
तू अपनो घर-बार लुटावै, उन जगते यारी जोरी है । दई मारे०
तेरो मान मथे कलकत्ता, वह लन्दन तक झकझोरी है । दई मारे०
तू साहब शंकर को माने, वह गिरजा की मिस भोरी है । दई मारे०

दूसरे दिन मैं भाई सुरेन्द्र शर्मा के साथ कविजी के दर्शन करने उनके डेरे पर गया । संभवतः स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा भी यहाँ ठहरे थे । दरबार-सा लगा था । अनेक साहित्यिक, राष्ट्रीय और सामाजिक सज्जन उपस्थित थे । काव्य-चर्चा छिड़ी हुई थी । शंकरजी अपनी अप्रकाशित निधि के कुछ मोती बिखेर रहे थे। खूब आनन्द रहा । हमलोगों ने शंकरजी से साक्षात्कार कर अपने को धन्य माना । मैंने शंकरजी की इन दुष्प्राप्य कृतियों को नोट कर लिया था ; लेकिन दुःख है कि मैं उन्हें सुरक्षित न रख सका ।

दूसरी बार शंकरजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे गत १३ जुलाई को प्राप्त हुआ, जब मैं अपने मित्र 'सैनिक' के कुँवर सरदारसिंह वर्मा-सहित हरदुआगंज गया था । कविजी की बीमारी का समाचार भाई हरिशंकरजी से आगरे में कई बार ज्ञात हो चुका था । शंकरजी का यकृत् बढ़ गया था । बीमारी निरंतर बढ़ रही थी । इलाज जारी था । कोई आराम होते न देख चिन्ता बढ़ी, और हरिशंकरजी कविजी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हरदुआगंज चले गये ।

हमलोग जब हरदुआगंज गये थे, उस समय यद्यपि शंकरजी को कष्ट था, वृद्धिगत यकृत् में पीड़ा होती रहती थी; लेकिन उनके-जैसा प्रेमी और अतिथि-सत्कारक तो दिखाई नहीं देता। भोजनोपरान्त बातचीत आरम्भ हुई। खाट पर उठकर बैठ गये। हम लोगों ने लेटे रहने का आग्रह किया; लेकिन नहीं माने—बैठे-बैठे बातें करते रहे।

उनके अभिन्न-हृदय मित्र पं० पद्मसिंहजी की मृत्यु का प्रसंग छिड़ा। बड़े दुःखी हुए। बोले—"पद्मसिंहजी गये, रत्नाकरजी गये, किशोरीलालजी भी चले गये, अब तो भाई हमारी बारी भी आ गयी।" उनका यह वचन सुनकर हृदय पर चोट-सी लगी। मैंने कहा—"महाराज, आपका रोग जाता रहेगा, चिन्ता की बात नहीं है। हमें आशा है कि आप शीघ्र अच्छे हो जायँगे।" कवियों और कविता की चर्चा चल पड़ी। आपने बचपन की उर्दू-कविताएँ सुनायीं।

हरदुआगंज में उस जमाने में उर्दू के मुशायरे हुआ करते थे। कविजी को १३ वर्ष की अवस्था से ही काव्य-प्रतिभा प्राप्त थी। आप भी जखड्डु मौलवियों और मुंशियों में जा पहुँचते और सुनाते; लेकिन बालक शंकर को दाद कोई न देता—'बच्चा' कहकर टाल देते। इसपर एक दिन आपने, उन सबको छकाने के लिये एक चीज मुशायरे में पढ़ी, जिसके चन्द शेर ये हैं—

ज़मन ग़बीरो शक़ोफ़ा कल्जुल्, इधर हमारे उधर तुम्हारे।
लुत्फ़े तक़ीज़ा ख़िज़रे वतन्नुल्, इधर हमारे उधर तुम्हारे।

शुअरा (कविजन) ताज्जुब से शंकरजी का मुँह ताकने लगे। कविता पिंगल की दृष्टि से शुद्ध थी; लेकिन बालक शंकर का यह छायावाद किसी की समझ में न आ रहा था। उसका अर्थ तो तब किसी की समझ में आता, जब वह इस उद्देश्य से लिखी गयी होती। कोरी लफ़्फाज़ी (शब्दाडम्बर) का भी कभी कोई अर्थ होता है; लेकिन

उपस्थित शायर अपना-अपना जोर लगा रहे थे। उनकी समझ में अभी तक यह रहस्य आया ही न था कि उनके मुशायरे में कोई बालक कवि अपनी बाल-सुलभ चतुराई से—

इक तिफ्ले दबिस्ताँ है, फलातूँ मेरे आगे

को चरितार्थ कर रहा है। आपके उस्ताद मौलवी भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने दरियाफ्त किया—"सच बताओ, यह किसकी रचना है?" आप और गंभीर बन गये। लेकिन, फौरन बोले—

शाइरे अशयार मुहमिल, उर्फ़ नाथूराम नाम;
शेख़ सादी भी न समझें, जिस सखुनबर का क़लाम।

इसपर समस्त समाज कहकहा देकर हँस पड़ा। शंकरजी ने अपने बचपन में, उन्हें पढ़ाया जानेवाला समस्त भूगोल छन्दोबद्ध कर डाला था।

उस दिन शंकरजी से इस प्रसंग को सुनकर हमलोग खूब हँसे। बालकों की-सी स्वाभाविकता अब तक उनके स्वभाव में मौजूद थी। जिस समय हमलोग बैठे बातें कर रहे थे, आपके नाती चि० मूलशंकरजी अलीगढ़ से लौटे। उन्होंने अंगूर लाकर कविजी के सामने रख दिये। उन्होंने अपने नाती-नतिनियों को एक-एक कर बुलाया और बाँटना शुरू कर दिया। कैसे प्रेम और मनोरंजनपूर्वक वे उन्हें यह सौगात बाँट रहे थे, वह दृश्य भूलता नहीं। उनकी बाल-सुकोमलता का प्रतिविम्ब उसमें दिखाई दिया।

कवियों के प्रसंग में कहने लगे—"कवि तो दो ही हुए हैं—'हाली' और 'अकबर'। मैं इन्हीं दो को शायर मानता हूँ। इन दोनों ने अपने कलम द्वारा देश की महती सेवा की है।" अकबर का देर तक ज़िक्र करते रहे। ज़िक्र करते-करते उनका हृदय भर आया। अकबर साहब

पर आपकी अपार श्रद्धा थी। अकबर साहब के सुपुत्र सय्यद इशरत हुसेन साहब जब अपने यशस्वी पिता की जीवनी प्रकाशित करने लगे, तो उन्होंने शंकरजी से, अकबर साहब की स्मृति में, कविता लिखने की प्रार्थना की। आपने अपनी श्रद्धा के यह दो फूल इशरत साहब को भेज दिये—

न रखना हो क़यामत का, न ज़ाहिर हो पयम्बर को ;
सुकूनत पाक जन्नत में, मिले अल्लाह ! 'अकबर' को।

जो, सुना गया है, अकबर साहब की जीवनी के मुखपृष्ठ पर सुशोभित है। कैसे अनुराग से आपने यह प्रसंग हमें उस दिन सुनाया था !

बातचीत में कभी-कभी अपनी कोई छोटी कविता भी पढ़ने लग जाते थे। भाई रामस्वरूप शास्त्री भी बैठे थे। उनसे इशारा कर देते, और शास्त्रीजी पूरा सुना देते। इस तरह बड़ी देर तक आनन्द रहा। उनके पास से उठने को जी न करता था। हमें क्या पता था कि शंकरजी का यह अन्तिम दर्शन है। हमलोग चलने लगे तो आपने सवारी आदि की चिन्ता ऐसी की, जैसे कोई अपने बच्चों की करता है। बोले—"शास्त्री, तुम इन्हें बिठाल आओ।"

कवि-हृदय प्रेम-पूरित, दयार्द्र, पर-दुःख-कातर और निश्छल होना चाहिये। कविजी में इन गुणों की मानो उर्वराभूमि प्राप्त थी। जैसे सहृदय, सदय और स्नेही थे, काव्य में भी उसी का रूपांतर रहता था। वे जो कुछ लिखते थे, उसमें एक मूकवेदना अन्तर्निहित रहती थी—उनके दिल की तड़प की बिजली उसमें कौंधती थी। देश की सामाजिक और राजनीतिक अधोगति पर उनके दिल में जो दर्द था, उनकी कविता उसी की एक आह मात्र होती थी।

कवि द्रष्टा होता है। जिस समय समस्त संसार 'मोहनिशा' में सोता है, कवि उस समय जागता है—प्रकाश की खोज में। दिवाली आयी

है, आबाल वृद्ध-वनिता प्रसन्नचित्त घूम रहे हैं ; लेकिन शंकरजी दिवाली की दीपावली पर भी अपना अलग 'दीया' जलवा रहे हैं। भारतवासी लाखों दीपकों के प्रकाश में भी अपने घर को नहीं देख पाते ; लेकिन कवि-हृदय की कसक, आज वास्तविक प्रकाश के ह्रास से द्विगुणित हो उठती है। वह कह उठता है—

सुन शतरंजीशाह बिसात लुटो क्या छोड़ा है,
रहे न फ़ील वज़ीर न प्यादे बचे न घोड़ा है ;
न जंगी ऊँट जुँगाला है।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है।

मतवाले मत पंथ मनानेवाले लड़ते हैं,
बैर-विरोध बढ़ाय गर्व-गड्ढे में पड़ते हैं ;
अविद्या ने घर घाला है।
दीया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है।

सबल बड़ों के बूढ़ बड़ाई कहाँ न पाते हैं,
वैदिक दर्प दबोच वेदियों पै चढ़ जाते हैं ;
डुबा धी नाम उछाला है।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है।

पटवारी प्रण रोप किसानों का जी भरते हैं,
मासिक से अतिरिक्त रसीला-चारा चरते हैं ;
हरा प्रत्येक निवाला है।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है।

त्राण अनेक अनाथ गाड-नन्दन* से पाते हैं,
कितने ही कुलवीर रसूलिल्लाह मनाते हैं ;

* हज़रत मसीह Son of God.

हमारा ह्रास निराला है ।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है ।

उन्नति के अवतार मिलों का मान बढ़ाते हैं,
चरबी चुपड़ें चक्र, चक्र पै चाम चढ़ाते हैं ;
अहिंसा का प्रण पाला है ।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है ।

गुरुकुलियों को दान अकिंचन भी दे आते हैं,
पर कंगाल-कुमार न विद्या पढ़ने पाते हैं ;
धनी लड़कों की शाला है ।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है ।

राजा धनिक-उदार मरत जीने पै मरते हैं,
गोरे-गुरु अपनाय प्रशंसा पूजा करते हैं ;
यही तो मान-मसाला है ।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है ।

बैरिस्टर मुखतार वकीलों का धन बन्दा है,
नैतिक तर्क-बिलास न निर्धनता का फन्दा है ;
कमाऊ झगला या लॉ है ।
दिया जलाकर देख दिवाली नहीं दिवाला है ।

भारत के इस दिवालिये बही-खाते के ये चन्द वर्क हैं । 'शठ-पूजा', 'प्रजा का अज्ञानान्धकार', 'विधवा-विलाप', 'अनाथ-अपहरण', 'सामाजिक ह्रास', 'आचरण का पतन', 'महामारियों का ताण्डव' आदि अनेक खाते तो वहाँ खोलकर दिखाये ही नहीं जा सकते ।

पुलिस, पतुरिया (रंडी-बेड़नी) और पटवारी—इन तीन पकारों ने ग्रामीण किसानों का राम निकाल डाला है । कवि उनके विनाश की चिन्ता करता है ।

आजकल हिन्दी में कवियों की बाढ़ और कविता का बवण्डर आया हुआ है। लेकिन कितने ऐसे हैं, जो किसी आदर्श के पूजक हैं, जिनके समक्ष कोई लक्ष्य है? कितने ऐसे हैं, जो दर्दे-दिल की दास्तान लिखते हैं? कितने ऐसे हैं, जो बकौल इकबाल—

बिस्मिल नहीं है तू तो, तड़पना भी छोड़ दे

के कायल हैं?

कवि अलौकिक सत्य का अन्वेषक होता है। वह लोकोत्तर वायु-मंडल में विचरण करता है, ऊँची उड़ान भी भरता है; लेकिन किसलिए? किसी आदर्श की खोज में अथवा कोरे शब्द-जाल की उलझन में? वह जगज्जाल और मायिक बन्धनों को काटता है, न कि दूसरों को अपने केशपाश में बाँधता है। आदर्श उसका जीवन है; लक्ष्य उसका प्राण है। कविराज शंकरजी की प्रतिभा आदर्शवाद के गहरे रंग में रँगी हुई थी। उनका 'रंक' अपनी नित नयी आपत्तियों से प्रपीड़ित होकर 'रोदन' करता है—

दुखड़ों की भरमार यहाँ सुखसाज नहीं है,
किसका गोरस भात मुठी-भर नाज नहीं है।
भटकें चिथड़े धार धुले पट पास नहीं है,
कुनबे-भर में कौन अधीर उदास नहीं है।
मक्की मटरा मोठ भुनाय चबा लेते हैं—
अथवा सूखे रोट नमक से खा लेते हैं।
सत्तू दलिया दाल पेट में भर लेते हैं
गाजर मूली पाय कलेवा कर लेते हैं।
बालक चोखे खान-पान को अड़ जाते हैं,
खेल-खिलौने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं।
वे मनमानी वस्तु न पाकर रो जाते हैं,
हाय हमारे लाल सुबकते सो जाते हैं।

घर में कुरते कोट सलूके सिल जाते हैं,
उजरत के दो-चार टके यों मिल जाते हैं।
जब कुछ पैसे हाथ शाम तक आ जाते हैं,
तब उनका सामान मँगाकर खा जाते हैं।
लड़के-लड़की बीन - बीनकर ला देते हैं,
ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं।
वृद्ध चचा जल डोल घड़ों से भर देते हैं,
माँग-माँगकर छाछ महेरी कर देते हैं।

छप्पर में बिन बाँस घुने ऐरण्ड पड़े हैं,
बरतन का क्या काम घड़ों के खण्ड पड़े हैं।
खाट कहाँ दस-बीस फटे से टाट पड़े हैं,
चकिया की भिड़ फोड़ पटीले पाट पड़े हैं।

दिया जले किस भाँति तेल को दाम नहीं है,
अटके मच्छर डाँस कहीं आराम नहीं है।
फिसल पड़े दीवार यहाँ संदेह नहीं है,
कर दे पनियाँढाल नहीं तो मेह नहीं है।

उसे देखकर इन लोगों को ईर्ष्या भी होती है—

जैसे भारत-भक्त धर्मधारी मिस्टर हैं,
थानेदार, वकील, डाक्टर, बैरिस्टर हैं।
वैसे उनकी भाँति प्रतिष्ठा पा सकते हैं,
क्या यों मुझसे रंक कमाई खा सकते हैं?

लेकिन, वह आदर्श से पतित होना नहीं चाहता। मुसीबतों की चक्की उसे पीसकर गली का रेत नहीं बना सकती। शंकरजी के शब्दों में वह कहता है—

"बपतिस्मा सकुटुम्ब बिशप से ले सकता हूँ,
धन्यवाद प्रभु गॉड-तनय को दे सकता हूँ।
धन-गौरव-सम्पन्न पुरोहित हो सकता हूँ,
पर क्या अपना धर्म पेट पर खो सकता हूँ ?

देश-भक्ति का पुण्य-प्रसाद पचा सकता हूँ,
विज्ञापन से दाम कमाय बचा सकता हूँ।
लोलुप-लीला भाँति-भाँति की रच सकता हूँ,
फिर क्या मैं कापट्य-पाप से बच सकता हूँ ?

शंकरजी लोकनायक कवि थे। वे जनसाधारण की व्यथा को उन्हीं की वाणी में बोलते थे। उन्हीं-लगती कहते थे, इसलिए विद्वान भी उनकी वाणी का आदर करते थे। उनकी उड़ान कष्ट-पीड़ित झोपड़ों, कराहती हुई बस्तियों, सामाजिक कालकोठरियों, राजनीतिक प्रपंचागारों तक ही सीमित थी। वे अपनी झोंक में अनन्त के अर्शे-मुअल्ला तक कभी नहीं उड़े। वे अपने हृदय में लोक-पीड़ा की वेदना लिए जमीन पर चलते थे, हृत्तंत्री के तारों को पकड़कर आसमान पर चढ़ने के प्रयत्न में वे त्रिशंकु कभी नहीं बने।

व्यक्तियों का दुराचरण उन्हें कष्टकर होता था ; इसलिए वे एक कुलवधू के निहोरे में अपनी स्वाभाविक व्यंग-वृत्ति के साथ शामिल हो जाते थे और कह उठते थे—

सैयाँ न ऐसी नचावो पतुरियाँ । टेक

गानै पै रीझो बजाने पै रीझो,
बन्दी की छाती में छेदौ न छुरियाँ। सैयाँ०

पापों की पूँजी पचैगी न प्यारे,
खाते फिरौगे हकीमों की पुड़ियाँ। सैयाँ०

डालोगे डाली डुलाते-डुलाते,
हाथों में पूरी न होंगी अंगुरियाँ। सैयाँ०

जो हाय शंकर दशा होगी ऐसी,
तो मेरी कैसे बचाओगे चुरियाँ। सैयाँ०

वास्तव में शंकरजी के हृदय में देश की सामूहिक अधोगति पर तीक्ष्ण अनुताप था। वे तो—

खंजर चले किसी पै, तड़पते हैं हम अमीर;
सारे जहाँ का दर्द, हमारे जिगर में है।

शंकरजी ने शृंगार रस पर भी अनूठी रचनाएँ की हैं। नख-शिख-वर्णन की, जिन लोगों ने उनकी कविताएँ सुनी हैं, वे कहते हैं कि जिन शृंगारिक कृतियों को शंकरजी ने अपने हाथों फूँक दिया था, यदि वे आज होतीं, तो देव और पद्माकर को शृंगार-प्रेमी भूल जाते। उनकी कतिपय एतत्संबंधी कृतियाँ, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, अपने विषय की चुनी हुई हैं—

"तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द-मन्द पड़ जायँगे;
मीन बिन मारे मर जायँगे सुरोवर में,
डूब-डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे।
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे;
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे।

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है;

नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छबि ने छपाकर की छाती पै छवायी है।
कौन मान लेगा कीर तुण्ड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समायी है;
सैकड़ों नुकीले कवि खोज-खोज हारे पर—
ऐसी नासिका की और उपमा न पायी है।

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो—
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं;
शंकर कि भारती के भावने-भवन पर—
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की साँवली सँपेलियों ने—
आधे विधु-बिंब पै विलास विधि ठानी है;
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी सदा—
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि—
श्याम-घनमंडल में दामिनी की धारा है;
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि—
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि—
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है;
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि—
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।

शंकरजी उदू-मिश्रित हिन्दी में भी लिखा करते थे। इसे वे बुरा न समझते थे। उनकी शृंगार रस की दो रसीली रचनाएँ यहाँ दी जाती हैं। रसिकजनों में इनका बहुत आदर हुआ है। उदू वालों ने भी इनकी

जी खोलकर दाद दी है। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा तो कविजी के इस मिश्रण पर ऐसे मुग्ध थे कि उन्होंने अपने एकेडेमीवाले व्याख्यान में दूसरे छन्द को अपने समर्थन में उद्धृत भी किया है—

बाग़ की बहार देखी मौसिमे-बहार में तो,
दिले अन्दलीब को रिझाया गुलेतर से;
हम चकराते रहे आसमाँ के चक्कर में,
तो भी लौ लगी ही रही माह की महर से।

आतिशे मुसीबत ने दूर की कुदूरत को;
बात की न बात मिली लज्ज़ते-शक्कर से;
शंकर नतीजा इस हाल का यही है, बस—
सच्ची आशिकी में नफ़ा होता है ज़रर से।

देखिये इमारतें मज़ार दुनिया के सारे,
रोज़े ने कहो तो शान किसकी न रद की;
हीरा पुखराज मोतियों की दर दूर कर,
शंकर के शैल की भी सूरत ज़रद की।

शौकत दिखा दी जमुना के तीर शाहजहाँ,
आगरे ने आबरू इरम की गरद की;
धन्य मुमताज बेगमों की सरताज तेरे,
नूर की नुमायश है चाँदनी शरद की।*

वीभत्स-रस की एक रचना को भी नाक-मुँह मूँदकर, जी कड़ाकर सुन लीजिए—

* यह रचना आगरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'चाँदनी शरद की' समस्या की, केवल पन्द्रह मिनट में की हुई, पूर्ति है। कितनी कोमल, कितनी भावपूर्ण! तारीफ की बात तो यह है कि शंकरजी ने रौज़े को अपनी आँखों कभी न देखा था। —लेखक

भौंड़े मुख लार बहै, आँखिन ढीड़ राधि—
कान में, सिनक रेंट भीतन पै डारि देति;
खोंस-खोंस खुरच खुजावै ठाड़ी पेड़ पेट,
टूँड़ी लौं लटकते कुचन को उघार देति।

लौट-लौट घीन घाघरे की बार-बार फिर—
बीन-बीन डोंगर नखन धर मार देति;
लूगरा गँधात, खड़ी चीकट-सी गात, मुख—
धोवे न अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति।

सौत का काँटा कैसा जहरीला होता है। उसके निकल जाने पर कैसी सुख की नींद आ जाती है, इसे कोई भुक्तभोगिनी ही जाने, पर कवि ने अपनी अनुभूति की सहानुभूति में कसक की जो कल्पना का हिंडोला झुलाया है, वह देखने लायक चीज है—

लंबे-लंबे झोंटन-सों झूलत ही सौतिन की—
बिरवा की डारिन में पटली अटकि गयी;
लागत ही झटका उखड़ गयो आसन पै—
ताड़िका-सी डोरिन को पकड़े लटकि गयी।
'शंकर' छिनार पट्ट पाथर पै टूटि पड़ी—
फूटो सिर, फाटी नरि, पिल ही पटक गयी।
छूटि गयो नारी, सीरी परि गयी सारी, आज—
मरि गयी दारी, मेरे मन की खटक गयी।

महाकवि शंकरजी के निधन से ब्रजभाषा की कविता का एक प्रकार से अन्त ही हो गया। साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी गये, रत्नाकरजी गये, शंकरजी भी गये, अब ब्रजभाषा का ईश्वर ही रक्षक है। शंकरजी की गुणावली का बखान कहाँ तक किया जाय। सच तो यह है कि वे अलौकिक कवि और अनुपम व्यक्ति थे। वे निस्पृहता, विज्ञापनहीनता

और आत्मत्याग के अवतार थे, और आजकल का युग इन तीनों बातों के सर्वथा प्रतिकूल है।

सन् १९१३ से पूर्व की बात है। शंकरजी के 'अनुराग-रत्न' को छपाने की तैयारियाँ की जा रही थीं। सामाजिक प्रगति में रुचि रखनेवाले एक स्वतंत्र राजा साहब को इसका पता चला। उनके अमात्य ने संदेश भेजा कि यदि शंकरजी अपनी कृति महाराज को समर्पित कर दें, तो महाराज साहब दो हजार की भेंट के साथ पुस्तक की छपाई का व्यय भी दे देंगे; लेकिन शंकरजी तो 'अनुराग-रत्न' को अपने अभिन्न-हृदय मित्र पं० पद्मसिंह शर्मा को समर्पण करने का संकल्प कर चुके थे। अपने निश्चित मार्ग से विचलित कर देनेवाला यह जबरदस्त प्रलोभन था। पं० पद्मसिंहजी ने स्वयं शंकरजी को यह भेंट स्वीकार कर लेने को प्रेरित किया, उनसे सादर अनुरोध किया; पर शंकरजी टस से मस न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"संपादकजी, मैं आपकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य कर सकता हूँ; लेकिन इस संबंध में"—शंकरजी ने हाथ जोड़े—"मैं स्पष्ट निवेदन करता हूँ कि आप एक शब्द भी मुझसे न कहें। यह कैसे हो सकता है कि धन के लोभ से मैं अपने हृदय की निधि किसी अपात्र को समर्पित कर दूँ?"

अभी कुछ ही वर्ष पूर्व की बात है—एक बड़े देशी नरेश विलायत से पढ़कर देश आये। उनके स्वागत-सत्कार और गद्दीनशीनी के उपलक्ष में विशाल समारोह हुआ। राज्य के प्रधान मन्त्री के आफिस से शंकरजी महाराज के एक आत्मीय को गुप्त पत्र लिखा गया कि शंकरजी इस अवसर पर महाराज की प्रशंसा में एक रचना लिख दें तो अन्य लब्धि के अतिरिक्त दो हजार नकद भेंट प्राप्त हो सकती है। शंकरजी ने अस्वीकार कर दिया। फिर पत्र आया, बहुत दिनों तक कई बार आग्रह हुआ; लेकिन शंकरजी ने केवल स्वार्थ के लिये किसी व्यक्ति की मिथ्या प्रशंसा में कुछ भी लिखने से सर्वथा इनकार कर दिया।

वे लुब्धकता और आत्म-प्रशंसा से कोसों भागते थे। आज तो यह युग ही आत्म-विज्ञप्ति का है। पूरी छपाई तो क्या, उसकी चौथाई ही हमें मिले, तो हम अपनी पुस्तक किसी सड़े-से मारवाड़ी को समर्पण कर दें। शंकरजी इसीलिये कहीं जाने को उद्यत न होते थे। कोई उनसे अधिक आग्रह-अनुरोध न करे; इसलिये स्वयं ही प्रतारणा भी कर ली थी—

धिक्कूप हरदुआगंज का शंकरशठ मण्डूक है।

शंकरजी पिंगल के आचार्य थे। अपने काव्य में उन्होंने पिंगल-नियमों का कठोरतापूर्वक पालन किया है। कई छन्दों का तो उन्होंने स्वयं निर्माण कर उनका स्वतन्त्र नामकरण भी किया है। वे आशुकवि थे, मिनटों में कविता करते थे; पर उसमें भी उनके इस नियम-पालन में कभी त्रुटि नहीं आयी। महाकवि गालिब की तरह शंकरजी भी—

लिखता हूँ असद सोज़िशे-दिल से सखुन गरम;
ता रख न सके कोई मेरे हर्फ़ प' अंगुश्त।

के अभ्यासी थे।

उनकी रचना पर अँगुली उठाने का आज तक किसी को साहस नहीं हुआ। अलबत्ता जो लोग ब्रजभाषा में कोरे हैं, वे अवश्य शंकरजी की कविता का पूरा आनन्द न ले सकने के कारण उनके शब्दों और वाक्यों को 'अक्खड़ प्रयोग' और 'ग्रामीण भाव' कह सकते हैं। जो लोग ब्रज की घरेलू भाषा से अभिज्ञ हैं, वे शंकरजी की कविता के जौहर को जान सकते हैं कि उनकी रचनाओं ने वह काम किया है, जिसे पचासों प्रचारक और अनेक अखबार नहीं कर सकते थे। आदर्श और दार्शनिकता का पुट दिये बिना तो उन्होंने अपनी व्यंग्योक्तियाँ भी नहीं लिखीं। शंकरजी के इस समय 'अनुराग-रत्न', 'शंकर-सरोज', 'वापस विजय' और 'गर्भरंडा-रहस्य' चार ग्रंथ प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त एक विशाल अप्रकाशित राशि प्रकाश में आने की प्रतीक्षा में है।

कविराज शंकरजी पीयूष-पाणि वैद्य थे। यही उनकी जीविका थी; लेकिन वर्तमान युग के अधिकांश वैद्यों की भाँति आपने इस पेशे को येनकेन-प्रकारेण धन-संचय का साधन कभी नहीं बनाया। मैं पहले कह आया हूँ कि कविवर शंकरजी लोकनायक कवि थे, इसी भाँति इस क्षेत्र में भी वे लोक-सेवक वैद्य थे; गरीब-गुरबों और बेकस-मरीजों के मसीहा थे। भारत में भला ऐसे रोगियों की क्या कमी, जिनके पास औषधि के पैसे तो क्या, पथ्य के लिए भी कौड़ी नहीं है। शंकरजी मानो ऐसे रोगियों के आत्मीय थे। प्रातःकाल उनके यहाँ रोगियों की भीड़ लग जाती थी। आप पहले गरीब और नातवाँ रोगियों को देखते, दवा देते, अथवा नुसखा लिख देने के साथ ही उससे यह भी पूछ लेते कि पथ्य के लिये उसके पास पैसे हैं या नहीं। नुसखा बहुत सस्ता और सादा होता। अगर रोगी तीन-चार पैसे भी जुटा सकने में असमर्थ होता—और भारत के देहातों में तो ऐसे ही रोगियों की भरमार है—तो आप अपनी गाँठ से उसे औषधि और पथ्य के लिए भी पैसे दे देते। यहाँ तक कि किसी-किसी रोगी के पास तो शीतादि से बचने का साधन भी न होता, तो आप अपने समर्थ रोगियों से उसका प्रबन्ध भी करा देते। आप हरदुआगंज जाइये, स्टेशन से ही गरीब इक्केवाले आदि शंकरजी की सहृदयता और दयार्द्रता के अनेक आख्यान आपको सुनाने शुरू कर देंगे। कविता और साहित्य-सेवा को उन्होंने आजीविका का साधन कभी नहीं बनाया।

'सरस्वती' में जब आपकी रचनाएँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थीं, तो हिन्दी-संसार में एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हुई। ग्रियर्सन साहब शंकरजी की कविताओं को बड़ी रुचि से पढ़ा करते थे। 'सरस्वती' के अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं में शंकरजी लिखते रहे।

कवि शंकरजी आदर्श और सिद्धान्त के पक्के पुजारी थे। एक बार एक नरेश ने बड़े आग्रह से उन्हें राजधानी में बुलाया था। कई दिनों तक महाराज के साथ काव्य-चर्चा रही। अन्त में महाराज ने अपना

मंतव्य प्रकट किया कि शंकरजी उनके लिए काव्य में श्रीकृष्ण-चरित्र लिख दें। आपने स्पष्ट कह दिया कि मैं तो गीता के कृष्ण का उपासक हूँ, श्रीमद्भागवत के कन्हैया का नहीं। अपने कृष्ण का दिग्दर्शन मैं करा सकता हूँ। सिद्धान्त-विषय में कोई समझौता न हो सका, पुष्कल-पुरस्कार की आपने परवा न की।

महात्मा गाँधी ने 'यंग-इंडिया' में स्वामी दयानन्द सरस्वती को असहिष्णु लिख दिया। शंकरजी को यह असह्य हुआ। उन्होंने इसपर एक कटूक्ति लिखी। आर्यसमाजी इससे प्रसन्न हुए, राष्ट्रवादियों को व्यथा हुई; लेकिन इस प्रसंग के कई वर्ष उपरान्त महात्माजी जब हरदुआगंज पहुँचे, तो सबसे पूर्व शंकरजी ने उनके चरणों में अपना मस्तक नत किया, स्वागत में कविता पढ़ी, चन्दा इकट्ठा किया और महात्माजी को थैली भेंट की। वे ऐसे दृढ़ राष्ट्रवादी और उदारमना थे।

कविजी ओजपूर्ण पुरातनवाद के प्रचारक थे। नयी रोशनी और वर्त्तमान युग की 'नवीनता' के वे विरोधी थे। पाश्चात्य सभ्यता के जिन पापों का प्रवेश धीरे-धीरे हमारे राष्ट्र के रुधिर में होता जा रहा है, उससे बचते रहने की उन्होंने अपने काव्य में पग-पग पर चेतावनी दी है। शंकरजी का वास्तविक जौहर तो तब खुलेगा, जब हमारे समक्ष उनकी अप्रकाशित रचनाएँ आयँगी। उनका राजनीतिक दृष्टि-विन्दु भी बहुत ऊँचा था। दुःख है कि इन थोड़े-से दिनों में कई प्राचीनता-पोषक विभूतियाँ हमारे बीच से विलुप्त हो गयीं !

—**मंगलदेव शर्मा**

पं० श्रीधर पाठक

कविवर पं० श्रीधरजी पाठक का नाम बहुत दिनों से सुनता आ रहा था। मेरे पिताजी और वे साथ-साथ एक स्कूल में पढ़े थे। इस बात का अभिमान था कि पाठकजी हमारे ही नगर, फीरोजाबाद परगने के निवासी थे और हमारे स्कूल के पुराने छात्र! न जाने कितनी बार उनकी निम्नलिखित पंक्तियों को दोहराया था—

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुंदर,
को सोभा को भौन रूप को कौन समुंदर?
काकौं उपमा उचित दैन दोउन में काकी,
याकौं सुरपुर की अथवा सुरपुर कौं याकी?
याकौं उपमा याही की मोहिं देत सुहावै,
या सम दूजो ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै।
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुरकानन सुंदर
यहि अमरन कौ ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर।

उनकी और भी अनेक पंक्तियाँ कंठाग्र थीं। यद्यपि पाठकजी के दर्शन का सौभाग्य सन् १६१५ में फीरोजाबाद में ही प्राप्त हो चुका था, जब कि वे प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से वहाँ

पधारे थे ; पर उनके निकट-संसर्ग में आने का सुअवसर अभी तक नहीं मिला था। इसलिए उनके ४।५।२० के पत्र के निम्नलिखित अंश पढ़कर और यह सोचकर कि बहुत दिनों की अभिलाषा अब पूर्ण होगी, हार्दिक हर्ष हुआ—

"आप अपने आने का वचन पूरा कीजियेगा अवश्य और अवश्य अपने ही स्थान (पद्मकोट) पर ठहरियेगा। मैं जानता हूँ, यहाँ पर कुछ चतुर्वेदियों के घर हैं, आपके शायद कोई नाते-रिश्तेदार भी होंगे। परंतु हमारा आपका गाँव का नाता उन सबसे जबर्दस्त है, उसे उपेक्षित न कीजियेगा। 'जोंधरी' और 'फिरोजाबाद' को न भूलिएगा।

स्नेहाकृष्ट
श्री० पा०"

मई सन् १९२० में पाठकजी की सेवा में उपस्थित हुआ और लगभग दो सप्ताह तक पद्मकोट में स्थित पद्मकुटीर में रहा। इस बीच में बीसियों बार उनसे बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और अनेक विषयों पर अनेक विचार जानने का अवसर प्राप्त हुआ। पाठकजी की कविता के अतिरिक्त जिन बातों का मुझपर अधिक प्रभाव पड़ा, वे थीं उनकी सुरुचि, सुप्रबंध शक्ति और सौंदर्य-प्रेम। उनकी पद्मकोट नामक कोठी उक्त तीनों चीजों के सम्मिश्रण का परिणाम थी। आज लूकरगंज रोड पर से जाते हुए यात्री को उनके उस उद्यान में कूड़े-करकट के ढेर पड़े दिखाई दें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर स्वर्गीय पाठकजी की विद्यमानता में यह असंभव था। जिस प्रकार अपनी कविता के पदों में काट-छाँट और संशोधन वे अंतिम समय तक करते रहते थे, उसी प्रकार अपने उद्यान के वृक्षों को भी सुसज्जित रखने की उन्हें निरंतर चिंता रहती थी। नवीन आगंतुकों को वे बड़े प्रेम के साथ अपने उद्यान के वृक्ष दिखाते थे। स्वयं मैंने ये वृक्ष उनके उपवन में देखे थे—

अनार, अमरूद, अमलताश, अशोक, आँवला, आम, कचनार, कटहल, कमरख, करौंदा, कुंद (दो तरह के), केना, केला, क्रोटन, खिन्नी, गुड़हर, गुलाब (पाँच-छै तरह के), गुलाब की लता, चमेली, जुही, डाइटिना की बाड़, ताड़, नीबू, फालसा, बड़हर, बड़ीलिली, बेंत, बेला, मिट्ठा, मौलिश्री, रायलकेन, रेलिया (पाँच प्रकार के), लीची, शरीफा, शहतूत, सुदर्शन, सेंजना और स्थल-कमल।

वास्तव में 'पद्मकोट' पाठकजी की सर्वोत्तम कृतियों में से है ; बल्कि यों कहना चाहिये कि यदि वे अपने जीवन में केवल 'काश्मीर-सुषमा' और 'पद्मकोट' की ही रचना करते, तो भी वे कविता तथा सौंदर्य के प्रेमियों के लिये चिरस्मरणीय हो जाते।

उस समय पाठकजी की बातें सुनना हिंदी के ४० वर्ष (१८८०-१९२०) के इतिहास का अध्ययन करना था। पाठकजी ने अपनी बाल्यावस्था की बहुत-सी बातें सुनायीं। सन् १८७४ की बात है। पाठकजी के हिंदी-स्कूल कोटला में इंस्पेक्टर लायड साहब वार्षिक परीक्षा लेने आये। ऊँची दफाओं के लड़कों को पढ़ने के लिये खड़ा किया गया। पाठकजी नीची दफा में थे ; पर उनको सब-डिप्टी इंस्पेक्टर ने ऊँची दफा के साथ पढ़ने को खड़ा किया। उनके पढ़ने की बारी आयी, तो भूगोल की पुस्तक में से, जो थोड़ी देर पहले ही उन्हें पारितोषिक में मिली थी, पढ़ा—"दाबह चज उस धरती का नाम है, जो चिनाब और झेलम के बीच में है।"

साहब—"इसका मतलब कह सकता है ?"

पाठकजी—"चिनाब को 'च' लयो और झेलम को 'ज' लयो—चज बन गयो।"

साहब ने मुँह में उँगली दी। डिप्टी इंसपेक्टर, सब-डिप्टी इंसपेक्टर, मुदर्रिस, विद्यार्थी तथा दर्शकगण चकित हुए और ग्राम तथा जिले भर के मुदर्रिसी आसमान में एक शोर मच गया। यह बात ध्यान देने योग्य

है कि पाठकजी ने इस पुस्तक को पहले कभी नहीं पढ़ा था और न इस दोआब का नाम ही कहीं सुना था।

पाठकजी अपने गुरु पूज्य जयरामजी का नाम बड़े सम्मान के साथ लेते थे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप पं० जयरामजी के विषय में मुझे कुछ लिखा दीजिये। उन्होंने कहा--"अच्छा लिखो" और निम्न-लिखित पंक्तियाँ बोलकर लिखायीं—

"पूज्य पं० जयरामजी उन हिंदुस्तानी ग्रामीण सज्जनों के नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्य-समाज अपना गौरवयुक्त स्थान सुरक्षित किये हुए है। उनमें वे सब गुण थे, जो एक साधारण मनुष्य को सच्चे मनुष्यत्व की पदवी प्रदान करते हैं। सबसे प्रथम उनके गुणों में गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुखमंडल—जिसमें बुद्धि की तीव्रता, सात्विक भावव्यंजक, मस्तक की विशालता, आंतरिक महत्व प्रदर्शक नेत्रों की तेजस्विता, गौरवर्ण की समुज्ज्वलता-सहित अपनी-अपनी सत्ता का स्वंतत्र रीति से साक्ष्य देती थी—उनके मित्र और शिष्यवर्ग के हृदय पर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखता था। वे सब प्रकार की सहनशीलता की मूर्ति थे। मुझको उनमें कोई भी अवगुण दृष्टि नहीं आता था। वे प्रायः अपने सिर को एक सफेद रंग की बड़ी पगड़ी से विभूषित रखते थे, लंबा अंगा पहनते थे और जहाँ वह जा निकलते थे, प्रतिष्ठित गौरव का रूप बँध जाता था। जो उनको देखता था, रोब में आ जाता था और उनकी इज्जत करता था। एक दफा पंडितजी की आगरा कालेज बोर्डिंग हाउस में वहाँ के सुपरिंटेंडेंट मास्टर शालिग्राम से मुलाकात हुई। मास्टरजी के पूछने पर कि आप कब तशरीफ लाये, उन्होंने जवाब दिया—"हूँ साब, चारि बजे की गाड़ी पै आयो हो।" वे अधिकतर ऐसी ही ग्राम्यभाषा का व्यवहार किया करते थे और वह उनके मुख से एक विशेष महत्त्व और रुचिरता लिये हुए श्रवणों को आनंद देती थी।"

यह बात ध्यान देने योग्य थी कि पं० जयरामजी ने ही पाठकजी को अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिये उत्साहित किया था। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीधरजी तहसीली स्कूल में पढ़ने के लिए नहीं आ रहे हैं, तो वे स्वयं पाठकजी को लेने के लिये उनके ग्राम पर गये। 'जोंधरी' पहुँच-कर उन्होंने पाठकजी से भाषा-भास्कर में अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर यथा-रीति ठीक-ठीक मिले। फिर कुछ रेखागणित आदि में भी पूछा। श्रीधरजी को रेखागणित में बड़ी दिलचस्पी थी। उन्होंने उन प्रश्नों का उत्तर भी बड़ी सफलता के साथ दिया। तब पं० जयरामजी ने अपने आने का प्रयोजन प्रकट किया। श्रीधरजी को यह जानकर कि अब एक बड़े मदरसे में पढ़ने और एक शहर में रहने का अवसर मिलेगा, हार्दिक प्रसन्नता हुई। श्रीधरजी तहसीली स्कूल में जाकर पढ़े और परीक्षा में संपूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेश में उनका नंबर प्रथम आया।

आज कितने शिक्षक हमारे यहाँ इस प्रकार के हैं, जो योग्य छात्रों को इस प्रकार तलाश करके अपने विद्यालय में लावें ?*

पद्मकुटीर में रहते हुए 'हिंदी-प्रदीप' के पुराने अंक भी देखने को मिले, जिनमें पाठकजी के लिखे हुए नाना प्रकार के हास्यरसपूर्ण लेख थे। दिसंबर १८८४ के अंक में उन्होंने एक औषधि लिखी थी, उसे सुन लीजिये—

बीमार हिंद के लिये सिहतावर जोशाँदा

फूट के कड़ुवे दाने	६ माशे
तुखन कुढंग	१ तोला
जिद्द और काहिली की सूखी फली	२ तोला

---

* प्रसंगवश यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि स्व० पं० जयरामजी के पौत्र श्रीयुत मंगलदेव शर्मा हिंदी के सुलेखक हैं और कई पत्रों में योग्यतापूर्वक संपादन कार्य करते रहे हैं।

रोगन फसाद	६ माशा
गुल गुलामी	३ माशा
मगज पंडिताई	३ तोला

इन सब दवाइयों को कूट-पीस, कपड़छन कर ५ सेर काले पानी में चढ़ा दो। जब पानी जलते-जलते छटाँक भर रह जाय, तब सेर भर बर्फ और सोडा-वाटर में मिलाय मियाँ-हिंद को पिला दो और नीचे लिखा मरहम उसके बदन भर में पोत दो, तो जरूर सब नसूर दूर हो घावों को पुरा देगा।

मरहम

बिलायती कुतिया की जबान
अंग्रेजी लियाकत का तेल
लाल समुद्र का पानी
काले आदमियों की मोमियाई

यकीन कामिल रक्खो, इन दो दवाइयों से हजरत हिंदुस्तान को जरूर आराम हो, इस बुढ़ापे में भी एक बार फिर पहले के-से हट्टे-कट्टे, संड-मुसंड हो उठेंगे।

हकीम--पस्तदिल, शिकस्त अकिल-खफगान-लुकमान।"

जुलाई, १८८५ के 'हिंदी-प्रदीप' में उन्होंने एक गद्य-पद्यमय निबंध लिखा था, वह भी पढ़ने लायक है--

"आता है।

आता है--अच्छा साहब, क्या आता है—सच जानिये, हमें तो कुछ नहीं आता, जो आपको बतला सकें कि कहाँ-कहाँ क्या चला आता है। हाँ, इतना अलबत्ता कह सकते हैं कि आजकल गर्मी खूब पड़ रही है, सो सभी के बदन में पसीना आता है, जिससे जी ऐसा उकताता-घबड़ाता है कि कुछ कहते बन नहीं आता—वरन् कभी-कभी तो जी में ऐसा पागलपन समा जाता है कि ख्याल के टट्टू को नैनीताल ही

की तरफ़ भगा ले जाता है, और जब उस सर्दिस्तान में पहुँच जाता है, तभी चैन आता है । खैर, ज्यों-ज्यों गर्मी बीती, वर्षा आयी, अब गगन में भ्रमण करती हुई सघन वन-उपवन विहारिणी, मनोहारिणी हरियाली की डहडही छवि की छटा देख वियोगी जन सावधान हो जाओ—

नाना कृपाण निज पाणि लिए, बपु नील बसन परिधान किए,
गम्भीर घोष अभिमान हिए, छकि पारिजात मधु पान किए ।
छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पल-पल पर आकृति कोर झुकावत
बन राह बाट श्यामता बढ़ावत
वैधव्य बाल वामता बढ़ावत
यह मोर नचावत शोर मचावत
श्वेत-श्वेत बगपाँति उड़ावत
शीतल-सुगन्ध सुन्दर अमंद नंदन प्रसून मकरंद बिंदु मिश्रित
समीर बिन धीर चलावत
अंधयारि रात हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल विधवा डरात
तिनके मन - मंदिर आग लगावत
छिन गर्ज-गर्ज पुनि लर्ज-लर्ज निज सेन सिखावत तर्ज-तर्ज
दुंदुभी धरणि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत बिहाग रस - प्रेम पाग अहो धन्यभाग
सुख पावत मेह महावत आवत ॥

हे विरहिनी जन ! चेत करो, धीर धरो—"उड़ाता खाक सिर पर झूमता (मेघ) मस्ताना आता है ।" हे मयूरी, तुम्हारी आर्त्त घोषणा श्रवण कर मेघ महाराणा चला आता है ।

छलकता बेधड़क यह बारिशे दीवाना आता है ।
सुनाया हमने इतना आपको लिख करके मुशफिक आज
यकीं है अब तो समझोगे हमें कुछ भी तो आता है ।"

इस प्रकार के और भी बीसियों मनोरंजक लेख पाठकजी ने 'हिंदी-प्रदीप' में लिखे थे, जिनमें कितने ही तो उनके नाम के बिना ही छपे थे।

पाठकजी से नित्यप्रति काफी देर तक बातचीत हुआ करती थी। उन बातों के संक्षिप्त नोट मैंने अपनी नोट-बुक में ले लिये थे। पाठकजी ने कहा—"किसी-किसी का कहना है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि नहीं हैं ; लेकिन मेरी समझ में तो वे अत्युत्तम कवि हैं। वे ग्राम्य भाषा का प्रयोग नहीं करते और उनकी कोमलकांत पदावली मनोहारिणी होती है।" एक भारतीय आत्मा (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) की कविता के 'निराले ढंग' को भी उन्होंने बहुत पसंद किया था। मैंने पाठकजी को निम्नलिखित कविता सुनायी, जो उन्होंने कविरत्न सत्यनारायण के स्वर्गवास के विषय में लिखी थी—

वह कोमल काकली कलित-सी सीखी वृन्दा विपिन-निवेश,
मस्त कान्ह को कर-कर देती हर-हर लेती हृदय-प्रदेश।
राष्ट्र-भारती के उपवन में होती रहती थी वह कूक,
कर-कर दिए क्रूरताओं के उसने सदा करोड़ों टूक॥
वह कोकिल उड़ गया—गया—वह गया—कृष्ण दौड़ो लाओ।
वनदेवी का धन लौटा दो सच्चे नारायण आओ।

इस कविता को पाठकजी ने बहुत पसंद किया ; लेकिन चतुर्वेदीजी की 'लो आया' शीर्षक कविता को हम-दोनों में से कोई नहीं समझ सका। खेद है कि मेरे पास उन दिनों उनकी 'हृदय' शीर्षक कविता नहीं थी। मुझे विश्वास है कि पाठकजी उसे बहुत पसंद करते। सत्यनारायणजी की 'ग्रीष्म-गरिमा' मैंने उन्हें सुनायी और उसे भी उन्होंने खूब पसंद किया और बोले—"सत्यनारायण की कविता जैसी उनके मुख से अच्छी लगती थी, वे वैसी किसी के मुँह से नहीं।" पर सत्यनारायणजी

की तरफ भगा ले जाता है, और जब उस सर्दिस्तान में पहुँच जाता है, तभी चैन आता है। खैर, ज्यों-ज्यों गर्मी बीती, वर्षा आयी, अब गगन में भ्रमण करती हुई सघन वन-उपवन विहारिणी, मनोहारिणी हरियाली की डहडही छवि की छटा देख वियोगी जन सावधान हो जाओ—

नाना कृपाण निज पाणि लिए, बपु नील बसन परिधान किए,
गम्भीर घोष अभिमान हिए, छकि पारिजात मधु पान किए।
छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पल-पल पर आकृति कोर झुकावत
बन राह बाट श्यामता बढ़ावत
वैधव्य बाल वामता बढ़ावत
यह मोर नचावत शोर मचावत
स्वेत-स्वेत बगपाँति उड़ावत
शीतल-सुगन्ध सुन्दर अमंद नंदन प्रसून मकरंद बिंदु मिश्रित
समीर बिन धीर चलावत
अंधयारि रात हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल विधवा डरात
तिनके मन - मंदिर आग लगावत
छिन गर्ज-गर्ज पुनि लर्ज-लर्ज निज सेन सिखावत तर्ज-तर्ज
दुंदुभी धरणि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत बिहाग रस - प्रेम पाग अहो धन्यभाग
सुख पावत मेह महावत आवत॥

हे विरहिनी जन! चेत करो, धीर धरो—"उड़ाता खाक सिर पर झूमता (मेघ) मस्ताना आता है।" हे मयूरी, तुम्हारी आर्त्त घोषणा श्रवण कर मेघ महाराणा चला आता है।

छलकता बेधड़क यह बारिशे दीवाना आता है।
सुनाया हमने इतना आपको लिख करके मुश्फिक आज
यकीं है अब तो समझोगे हमें कुछ भी तो आता है।"

इस प्रकार के और भी बीसियों मनोरंजक लेख पाठकजी ने 'हिंदी-प्रदीप' में लिखे थे, जिनमें कितने ही तो उनके नाम के बिना ही छपे थे।

पाठकजी से नित्यप्रति काफी देर तक बातचीत हुआ करती थी। उन बातों के संक्षिप्त नोट मैंने अपनी नोट-बुक में ले लिये थे। पाठकजी ने कहा—"किसी-किसी का कहना है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि नहीं हैं; लेकिन मेरी समझ में तो वे अत्युत्तम कवि हैं। वे ग्राम्य भाषा का प्रयोग नहीं करते और उनकी कोमलकांत पदावली मनोहारिणी होती है।" एक भारतीय आत्मा (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) की कविता के 'निराले ढंग' को भी उन्होंने बहुत पसंद किया था। मैंने पाठकजी को निम्नलिखित कविता सुनायी, जो उन्होंने कविरत्न सत्यनारायण के स्वर्गवास के विषय में लिखी थी—

वह कोमल काकली कलित-सी सीखी वृन्दा विपिन-निवेश,
मस्त कान्ह को कर-कर देती हर-हर लेती हृदय-प्रदेश।
राष्ट्र-भारती के उपवन में होती रहती थी वह कूक,
कर-कर दिए क्रूरताओं के उसने सदा करोड़ों टूक॥

वह कोकिल उड़ गया—गया—वह गया—कृष्ण दौड़ो लाओ।
वनदेवी का धन लौटा दो सच्चे नारायण आओ।

इस कविता को पाठकजी ने बहुत पसंद किया; लेकिन चतुर्वेदीजी की 'लो आया' शीर्षक कविता को हम-दोनों में से कोई नहीं समझ सका। खेद है कि मेरे पास उन दिनों उनकी 'हृदय' शीर्षक कविता नहीं थी। मुझे विश्वास है कि पाठकजी उसे बहुत पसंद करते। सत्यनारायणजी की 'ग्रीष्म-गरिमा' मैंने उन्हें सुनायी और उसे भी उन्होंने खूब पसंद किया और बोले—"सत्यनारायण की कविता जैसी उनके मुख से अच्छी लगती थी, वे वैसी किसी के मुँह से नहीं।" पर सत्यनारायणजी

के उपालंभ उन्हें नापसंद थे। वे कहते थे कि परमात्मा से बार-बार शिकायत करना ठीक नहीं--"भीरुभोग्या वसुन्धरा नहीं है।"

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसादजी, बालमुकुन्दजी गुप्त, जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी इत्यादि की कुछ न कुछ चर्चा नित्य ही चला करती थी। पिछले दिनों में पाठकजी और द्विवेदीजी में कुछ मतभेद-सा हो गया था। आपस का पत्र-व्यवहार भी बहुत दिनों से बंद था। जहाँ पाठकजी में अनेक गुण थे, वहाँ उनके स्वभाव में कुछ त्रुटि भी थी। वे कुछ शंकाशील थे और सनक की मात्रा भी उनमें पायी जाती थी। संभवतः, इसी कारण उनका अन्य सज्जनों से कभी-कभी मन-मुटाव भी हो जाता था। एक बार बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उनको एक अच्छी चिट्ठी लिखी थी, जिससे गुप्तजी तथा पाठकजी दोनों के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। वह पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कलकत्ता, २६-११-१९००

पूज्यवर, प्रणाम !

मेरी सालाना खाँसी मुझे फिर तंग कर रही है, इसी से आपके १५ नवम्बर के कार्ड का उत्तर झटपट न दे सका। इसके सिवाय उत्तर के देने में कुछ दुख होता है, इससे भी देर की।

बिना मूल्य और मूल्य की कुछ बात नहीं है। वह सब आपकी इच्छा पर ही है। आपने मूल्य भेजा था, हमने वापिस भी नहीं किया। सुनिए—आप पत्र (भारतमित्र) न पढ़ेंगे, तो इसमें आपकी कुछ हानि नहीं है; परन्तु लाभ भी नहीं है। इसी प्रकार 'भारतमित्र' की हानि नहीं, पर लाभ भी नहीं। परन्तु, बालमुकुंद की हानि है, सो सुनिए--

मैं समझता हूँ कि आपमें एक उत्तम कविताशक्ति है और वह ऐसी है कि जिससे आगे को हमारी कविता का कुछ भला हो सकता है। इसी से पुत्तनलाल पटनेवाला जब आपकी कविता को अलंकृत कर रहा

था, तो मुझे उसकी खबर लेनी पड़ी तथा आपको भी सूचना देनी पड़ी। उसका फल यह हुआ कि आपने कई एक कविताएँ अच्छी लिख डालीं, जिनमें से 'घन-विनय' एक विचित्र ही कविता है।

दुख यही है कि बीच ही बीच में लिखा-पढ़ी आ पड़ी, उससे आप का जी मुझसे नाराज हो गया। उसी का यह फल है कि आप भारत-मित्र से नाता तोड़ते हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि आप केवल कविता ही लिखते और आलोचना करनेवालों की बात का बुरा-भला न मानते। आपको उत्तर देने की क्या जरूरत है जब कि आपकी उत्तम कविता आप से आप लोगों को मोहित कर लेती है?

आप कभी-कभी इचे जाते हैं कि आपकी कविता का वह मूल्य नहीं, जो विलायत आदि में अच्छे-अच्छे कवियों की कविता का है। परंतु, इस देश की गिरी दशा को तो देखिये कि कोई खाली भी आपसे कविता लिखने को नहीं कहता। एक मैं ही हूँ कि आपसे कविता लिखने का अनुरोध करता रहता हूँ। आप निश्चय जानिए कि इसमें मेरा एक माशा भी स्वार्थ नहीं है। मैं तो यही चाहता हूँ कि भगवान ने आपको जैसी तबीयत का एक कवि उत्पन्न किया है, तो उसकी कविता का कुछ विकास भी हो—यों ही न कुम्हला जावे। यदि आप कुछ लिख जावेंगे तो सौ-दो सौ वर्ष बाद शायद आपके नाम की पूजा तक हो सकती है।

एक 'भारतमित्र' के नाते से आपसे पत्र-व्यवहार चलता है। यह नाता आप तोड़ते हैं, भगवान जाने अब की टूटी कब जुड़े। कोई आठ साल बाद आपसे फिर पत्र-व्यवहार चला था, अब बंद होकर न जाने कब खुले? मैं नहीं जानता कि अब आप पत्र-व्यवहार करेंगे या नहीं, इससे कुछ विनय करता हूँ—

(१) हर बात में शंकित और उदास मत हुआ कीजिए।
(२) कोई कुछ आलोचना करे, तो उसकी परवाह मत कीजिए।

(३) आलोचकों की फिजूल बातों के उत्तर की जरूरत नहीं है।

(४) चित्त को हर मामले में प्रसन्न रखिए—बात-बात में नाराजी और चिढ़ भली नहीं ।

(५) आपका काम सुन्दर कविता बनाना है—छेड़-छाड़कर उत्तर देना नहीं।

(६) दासों और मित्रों पर विश्वास रखना।

(७) जब तक जीवन है, जीना पड़ेगा। सो प्रसन्नता से जीना चाहिए। उदासी क्यों ?

दास

बालमुकुन्द गुप्त

द्विवेदीजी से पाठकजी का पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में हुआ करता था। शिमला से लिखी हुई ३०-८-०३ की एक चिट्ठी का अंश सुनिए-

Simla

My dear Dwivediji, 30-8-03

As I enter my 'study' on return from a random stroll in the hills, my eye catches the sweet sight of a fresh post cover purporting to be from my Jhansi friend awaiting me. I tear it in pleasing haste and lo and behold ! I have digested its crisp contents in no time.

Right, welcome to your very sensible observations on the very 'sensitive' slip of paper used by me in writing my last epistle to you. Sensitiveness seems to have taken wings from Simla to Jhansi and leaps from Jhansi to Simla. The other half of the sheet which you so sensitively miss is, however, still adoring my pad to tell its own simple innocent tale. I give below extracts from its scribbled contents which may perhaps serve to cure the contagion of sensitiveness in either of us to some extent at least—

इसके बाद पाठकजी ने अपनी एक अंग्रेजी कविता का एक अंश उद्धृत किया—

"Would I here on these old Himadri's peaks
Where to the groaning winds stern thunder speaks;
And Heaven's orb's are longest lost in gloom
And nothing reigns but vapour, blast and bloom.
There are some cloud-clad cliff or costy crest
Could I find calm and contemplative rest—

अंतिम पंक्तियाँ ये थीं—

Trust this stray scrip you'll dearly care to keep
For future sight with feelings true and deep.
Here in frail Fancy frisks in raptures free
And poetry seems gone on drunken spree
Dear, as I pen this, Heaven speaks and pours!
Ev'n as I close this. Ever sincere yours.

पत्र के अंत में था—

Yours very sensitively."

राय देवीप्रसादजी का ज़िक्र करते हुए पाठकजी ने कहा—"हम दोनों में छंद-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता के विषय पर बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ था। मेरा यह पक्ष था कि कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि छंद-शास्त्र के विस्तृत नियमों को पढ़े। कविता पहले आती है, छंद-शास्त्र पीछे। राय साहब का मत मेरे विरुद्ध था, और हम दोनों में काफी गरम बहस हुई थी।

पाठकजी बाबू बालमुकुंद गुप्तजी के हँसोड़ स्वभाव की प्रशंसा करते थे। वे कहते थे—"एक बार गुप्तजी ने पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को एक पत्र भेजा था, जिसका प्रारंभ इस प्रकार था—

"जगन्नाथ चौपाया
पत्र आपका आया, मन भाया। इत्यादि।"

स्वर्गीय पं० बालकृष्ण का जिक्र पाठकजी बड़े प्रेम और श्रद्धापूर्वक करते थे। भट्टजी का और उनका संबंध कितना घनिष्ठ था, यह बात पाठकजी ने अपनी 'गोपिका गीत' नामक पुस्तक की 'समुपस्थिति' में लिखी थी—

"स्वर्गीय भट्टजी,

हम आपके संसर्ग से आपके साथ इतने ढीठ हो गए थे कि जब आपसे मिलते थे, 'प्रोनाम भट्टोजि' 'का हो भड़जी?' आदि अनेक विनोदात्मक संबोधनों से आपका अभिवंदन करते थे और आप आशीर्वाद देते थे—'तुमरे मूड़ै आग लगै, निबहुरियऊ!' (मेरी समझ में इसका भाव यह है कि 'जन्म-मरणादि भव-बंधन से विमुक्त हो) और यह स्निग्ध संलाप हमें इतना प्रिय था कि हम उसके पुनः पुनरभिनयन निमित्त आपके निकट दौड़-दौड़ के पहुँचते थे। आपके सत्संग-प्रसूत इस प्रकार के अगणित वाग्विनोद इन कानों के गहन-गह्वरों में पुनः-पुनः प्रतिध्वनित होते रहते हैं।"

पाठकजी का पत्र-व्यवहार हिंदी के अनेक प्रसिद्ध लेखकों तथा कवियों से रहा था और उसका कुछ अंश उन्होंने सुरक्षित भी रक्खा था। सुप्रसिद्ध हिंदी-प्रेमी अंग्रेज फ्रेडरिक पिंकाट साहब की अनेक चिट्ठियाँ उनके पास थीं। १० मई, सन् १८८८ के पत्र में मि० पिंकाट साहब ने पाठकजी को उनकी 'एकांतवासी योगी' नामक पुस्तक के विषय में लिखा था—

"I have already expressed to Lala Ayodhya Prasad and I now repeat to you that in my opinion your translation is a triumph of skill. It is rare, even in prose, that so faithful a rendering is seen, in the case of languages so widely

different as English and Hindi ; but in verse such close adherence to an original, while preserving fluency and poetic sweetness, is exceedingly rare indeed. Your verses, I trust, will direct the Indian mind to the beauties of nature and to the tender feelings of the heart. Extravagance of language and artificiality of sentiment characterize and disfigure oriental verse ; but such excellent verses as yours will draw the hearts of your people to the satisfying joys of simplicity and devoted affection."

प्रोफेसर जे० एफ० निकल साहब ने (M. J. F. Nicholl, M. A., Prof. Balliol College, Oxford) मि० पिंकाट साहब को पाठकजी के 'ऊजड़ग्राम' के विषय में जो हिंदी-पत्र भेजा था, वह ज्यों का त्यों उद्धृत करने लायक है—

'श्रीयुक्त पिंकोट साहेब समीपेषु,

प्रणामानंतर प्रकाश करता हूँ कि आज सांझ के समय आपका कृपा पत्र पहुँचा। उसी के साथ आपने एक पोथी भेजी है। इससे मैं समझ सकता हूँ कि अन्य देशीय विद्यानुरागी भी इंग्रेजी कवियों को कैसा प्रिय जानते हैं। पंडितजी ने अपनी पोथी का नाम 'ऊजड़ग्राम' रखा। परंतु निश्चय यह है कि लिखते समय उनका मन मक्खी के समान अपने मधु में ऐसा लिपट गया कि अक्षरों का विन्यास भूल गए। उसका नाम 'जड़ाऊ मग' रखना चाहिए ; क्योंकि उस पोथी की वाटें मणि-माणिक्य से जड़ित होती हैं। वस। वाट की वात चलाते ही क्या देखता हूँ एक वाटिका फूलती है। उस वाटिका की वाटों की दोनों ओर की क्यारियों की शोभा देखता हुआ चला जाता हूँ। मक्खी के समान एक फूल से दूसरे फूल पर बैठता रस लेता हूँ। उसी वाटिका के वृक्ष अमृतफल से लदे हैं, केवल मुख खोलने का कष्ट है, फल आप से आप

मुख में चले आते हैं। ईश्वर की शक्ति कैसी है । जो मैं शेषनाग की जीभों से युक्त होता तो उस बाग हरम की वर्णना कर न सकता।

ग्रंथकार ने पूर्व जन्म में पुण्य संचय किया होगा, नहीं तो वह ऐसी सिद्धि प्राप्त न होता कि उसके द्वारा इस 'ऊजड़गाम' को पुण्यफल (लक्ष्मी के उद्यान का नाम) कर दिया है। कवि का वचन प्रामाणिक है।

हरूफश चूं जुल्फे बुताने चुगल
हमा जाय जानस्तो मवाय दिल
मुआनीश दर ज़ेर हरफे सियाह
दरखशंदा चूं मेहसे रोशन चुमाह

ईश्वर की कृपा से पंडितजी ने एक मित्र पाया है। आपकी कृपा से उनकी चौपत्री मिली है। धन्य हमारे भाग्य !

२१ टोरेनफेल्ड रोड, आपका परम मित्र
१ मार्च, १८६० ईस्वी जे० एफ० निकल

पुनश्चः—शीघ्र लिखता हूँ। भूल चूक क्षमा कीजिए।

साहित्य-गोष्ठी

साहित्य-गोष्ठी के विषय में भी पाठकजी ने कई बार कहा। उनका विचार यह था कि प्रत्येक मास में कहीं प्रकृति की गोद में वृक्षों के नीचे अथवा नदी-तट पर साहित्यिक सज्जन इकट्ठे हुआ करें। प्रत्येक व्यक्ति अपना भोजन भी वहाँ साथ लेता जाय और वहाँ साहित्य-संबंधी चर्चा हुआ करे। इस गोष्ठी में कोई अश्लील बात न कही जाय और न ग्राम्य भाषा का प्रयोग हो। जो महाशय व्याकरण की अथवा अन्य प्रकार की भूल करें, उनपर प्रत्येक भूल के लिये एक पैसा जुर्माना किया जाय। इससे अपनी भाषा इस प्रकार बोलने का अभ्यास हो जायगा कि उसे ज्यों का त्यों लिख दिया जाय तो हर प्रकार से शुद्ध भाषा हो। इस गोष्ठी में बड़े-बड़े भाषण न दिये जायँ। इस प्रकार के सम्मेलनों से

पारस्परिक प्रेम का संचार होगा। पाठकजी कहते थे—"This will certainly raise the tone of Hindi-speaking" इस समय आप हिन्दी के साहित्य-सेवियों को बिठला दीजिये, सब अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकावेंगे।" पाठकजी ने यह भी कहा था कि इस प्रकार की गोष्ठी दो बार पद्मकोट में हुई भी थी।

अस्वस्थ रहते हुए भी पाठकजी ने मेरे लिए जो कष्ट सहा, जैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार किया, जोंधरी और 'पिरोजाबाद' का संबंध जिस प्रकार निबाहा, उसका स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है। चलते समय मैंने पाठकजी के चरण छुए। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और कहा—"पद्मकोट कौं जोंधरी समझिकै मन आवै तब चले आइवौ करौ।" खेद है कि पाठकजी के बाद पद्मकोट मेरे लिए 'जोंधरी' के बजाय 'प्रयाग' या यों कहिए 'इलाहाबाद' बन गया। अधिक क्या लिखूँ, इन संस्मरणों को पाठकजी की ही एक प्रेमपूर्ण चिट्ठी से ही समाप्त करता हूँ—

श्री प्रयाग

३०-६-२७

प्रियवर,

भौत दिननतें दस्सन-पस्स्न नायं भये। अब तो पिरोजाबाद ही रैत ओ? ऐयदाबादु च्यों छोड़िंदयो? इतमाऊं हूँ कबऊँ आइ बो होगौ?

कबऊँ कबऊँ तो चिट्ठी डारि देबौ करौ! उतमाऊँ ऋतु तो अच्छी होइगी—मांदिगी तो नाय फैली? अबकै पिरागमें पानी अच्छी तरै नाय बस्सौ—

दसैरा युआँ कैसौ है रहौ हो? जल्दी लिखियौ,

—श्री० पा०

वर्षों से मेरा विचार स्वर्गीय पाठकजी का एक जीवन-चरित लिखने का था। इसी उद्देश्य से दो सप्ताह से अधिक उनकी सेवा में रहा था। आज इस बात को ११ वर्ष बीत गये, पाठकजी के स्वर्गवास हुए भी दो वर्ष से अधिक हो गये; पर जीवन-चरित नहीं लिखा गया। क्यों? बस! यह मुझसे न पूछिए, मुझे लिखते हुए दुख होगा और आपको पढ़ते हुए खेद।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी*

दिनचर्या और दोष

लोगों का खयाल हो सकता है कि हिंदी के महारथी आचार्य द्विवेदीजी या तो बैठे-बैठे राम-राम जपा करते होंगे, या फिर पठन-पाठन में ही लगे रहते होंगे, नहीं तो इस बुढ़ापे में ऐसी विचार-प्रौढ़ता कैसे आ सकती है। द्विवेदीजी अब पोथों का चूरन नहीं फाँकते। पत्र-पत्रिकाओं पर नजर डाल लेते हैं। खास-खास लेखों को सुविधानुसार पढ़ लेते हैं। पर, पुस्तकों में उनकी सबसे प्रिय पुस्तक अब रामायण है। क्लेश और दुःख में भागवत के विशेष अंश पढ़ लेते हैं। काम वह अब भी करते हैं, और शायद जरूरत से ज्यादा। द्विवेदीजी का यही दोष है। ग्राम-सेवा उनके वर्तमान जीवन का अंग है। दौलतपुर आने से पूर्व मेरा खयाल था कि बैसवाड़े के कान्यकुब्ज होकर पूज्य द्विवेदीजी किसी विपत्ति-ग्रस्त पासी, कोली और चमार को कैसे छूते होंगे। दौलतपुर जाकर मालूम हुआ कि द्विवेदीजी-जैसा पर-दुःख-कातर कोई विरला ही हो। इसमें अतिशयोक्ति नहीं। द्विवेदीजी ग्राम-पंचायत के सरपंच हैं। न्यायप्रियता और स्पष्टवादिता तो उनकी ऐसी है कि उनकी पंचायत में किसी का भी

* यह रचना आचार्य द्विवेदी के जीवन-काल में लिखी गयी थी।

मुकदमा आ जाय, तो अंतःकरण से न्याय करेंगे, चाहे उस न्याय में कमलाकिशोरजी को ही दंड क्यों न भोगना पड़े।

किसी को चोट लग गयी है, बिच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदीजी उधर दौड़ जाते हैं और अपने हाथ से दवा लगाते हैं। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी में उनकी दृष्टि से कोई भेद नहीं।

प्रातःकाल उठकर, शौच से निवृत्त होकर द्विवेदीजी खेतों पर टहलने जाते हैं। वृद्धावस्था के कारण अधिक चला नहीं जाता, तो किसी मेड़ पर बैठकर सुस्ताते हैं। लौटकर, आवश्यकतानुसार, अपने उन रोगियों की सुध लेते हैं, जिनको वह ओषधि देते हैं। बच्चे और वयस्क उन्हें दिक करते ही रहते हैं। द्विवेदीजी पत्र लिखने बैठते हैं, तो बाहर से कोई बच्चा पूछता है—

"बाबा, का लिखत हौ?"

"मुनिया का चिट्ठी लिखित है।"

"मुन्नी (कमलाकिशोरजी की बेटी, जो प्रयाग में पढ़ती है) का जानत हौ?" चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदीजी बच्चे से पूछते हैं।

बच्चा—"हाँ।"

द्विवेदीजी—मुन्नी कहाँ रहति है?"

बच्चा—"इलाहाबाद।"

द्विवेदीजी—"हाँ, जानत हौ।"

और बच्चा उछलता-कूदता, अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता है।

टहलकर लौटने पर पहला काम जो द्विवेदीजी करते हैं, वह है झाड़न से अपने जूतों की सफाई। मैंने जो उनके जूते साफ करने को उठाये, तो कहने लगे—"रहने दो। बस, तबीयत से श्रद्धा चाहिये।" अखबार फाड़-फाड़कर रैपरों को वह हमलोगों की भाँति फेंकते नहीं, वरन् तह करके और सँभालकर रख लेते हैं, और उनका प्रयोग करते हैं—दवा की पुड़ियाँ बनाने और घर का हिसाब लिखने में।

दोपहर को आराम करके फिर कुछ काम करते हैं, और गाँववालों तथा घर का काम करके टहलने जाते हैं। सायंकाल को शीघ्र सोते हैं।

यद्यपि द्विवेदीजी ने अब पत्रों का लिखना कम कर दिया है—सूत्र-रूप में ही लिखते हैं, और लिखने में उन्हें घोर कष्ट भी होता है; पर फिर भी वह आवश्यकता से अधिक परिश्रम करते हैं। अपने कमरे तक की चीजों को स्वयं ही करीने से लगाते हैं। बहुत-से काम और लोग कर सकते हैं, पर उन्हें दूसरे का किया हुआ काम पसंद नहीं आता। संभवतः, उस स्टैंडर्ड का काम कोई कर भी नहीं सकता।

द्विवेदीजी की कार्य-शैली

द्विवेदीजी की सफलता की कुंजी है—घोर परिश्रम, दृढ़ संकल्प, ईमानदारी, कर्तव्य-परायणता और मनुष्यत्व। उनके पूर्व पृष्ठ पर तनिक विचार कीजिए। मीलों पीठ पर आटा रखकर ले जानेवाला बालक, भाग्य-चक्र के थपेड़ों का सामना करनेवाला युवा, शिक्षा और साधनों से हीन होता हुआ भी, विद्याध्ययन के कठोर क्षेत्र में प्रवेश करता ही जाता है। बर्फानी नदी को विकट चट्टानें फाड़कर मैदान तक आने में कितना परिश्रम पड़ता है। मानवीय जीवन-सरिता का पहाड़ी पड़ाव (Mountain Stage)—क्लिष्ट पथ जवानी का पूर्वकाल ही होता है।

द्विवेदीजी ने अपने समय की पाबंदी की है दृढ़व्रती की भाँति। काम करने का उनका ढंग यह था, और अब भी है, कि जो प्रोग्राम बना लिया, उसे निभाना जरूर। किसी समय उनका प्रण था कि एक घंटा प्रति दिन लिखेंगे। १० बजे से ६ बजे तक ऑफिस का काम—रेलवे का—करते थे। सब काम उसी दिन निबटाते थे। कभी-कभी रात भर काम करते। एक बार घर आना हुआ। एक घंटा लिखने का समय कैसे मिलता। बिंदकी रोड स्टेशन पर बैठकर एक घंटे पहले लिखा, तब घर गये।

यही क्यों, अब बुढ़ापे में उनकी कार्य-शैली और पटुता देखिए। पैसे-पैसे का हिसाब रखते हैं। महीने का बजट पहले ही बन जाता है। सरकारी बजट की भाँति नहीं कि बजट पेश करते समय देश के सम्मुख सब्ज़ बाग खड़े कर दिये, और फिर महीनों बाद सप्लीमेंटरी ग्रांट पेश की जा रही है। द्विवेदीजी का बजट बनता है, और वह निभाया जाता है। कोई विशेष घटना हो गयी, किसी दीन-दुखिया को उसकी मुसीबत में कुछ देना पड़ा—द्विवेदीजी से दूसरों का दुःख देखा नहीं जाता, फिर किसी मद में कमी करके, स्वयं कष्ट झेलकर काम करते हैं। मार्च का अंत था। एप्रिल का बजट बना रहे थे। मैंने उसे देखने की आज्ञा चाही, और फिर वह मूल कापी भी चाही। कुछ संकोच करके दे दी, और कहा—"अब तुमसे कुछ छिपा नहीं है, पर बुढ़ापे में इस बुड्ढे की हँसी न करना।" 'लीडर' के रैपर पर बजट था।

द्विवेदीजी को ५०) मासिक पेंशन इंडियन प्रेस से मिलती है। एप्रिल में उनका ब्यौरा देखिए—उमादत्त और सूधू-नामक नौकरों के हुए १४), श्रीकमलाकिशोरजी की बिटिया को शायद १०) मासिक भेजते हैं। एप्रिल में शायद ११) भेजने होंगे, ।) मनीआॅर्डर-फीस हुई, पोस्टेज १।=) का, शक्कर २) की, फुटकर तरकारी वगैरह ५), कमलाकिशोरजी को ४) जेब-खर्च प्रति मास के हिसाब से, श्रीमती कमलाकिशोर को २) प्रति मास के हिसाब से, वृद्धा बहन को १), भानजी बिटिया को १) और और नाइन को १।।), उन्निद्र-रोग के लिये Medinal नामक औषधि के ४), इस प्रकार ३=) बचत में रहे।

पाठक इस बात को साधारण न समझें। अब से पंद्रह या बीस वर्ष—शायद ४० वर्ष—पूर्व तक का द्विवेदीजी का बजट कोई देखना चाहे, तो बाकायदा तह किया हुआ रक्खा मिलेगा।

यही क्यों, पढ़े-लिखे लोग भी खेती करते हैं। कुछ लोग तो बड़े स्केल पर हजारों खर्च करके फॉर्म खोले हुए हैं; पर यदि उनसे यह पूछा

जाय कि हजरत, सन् १९२२ में आपके फॉर्म के अमुक खेत में कितने गठरी लाँक निकली थी, उसमें कितना भूसा हुआ, और उसका खर्च कैसे हुआ, तो वे न बता सकेंगे। और की कौन कहे, स्वयं इन पंक्तियों के लेखक के ही खेती होती है—लगभग उतनी ही, जितनी द्विवेदीजी के। यहाँ तो पिछले वर्ष तक का ब्यौरा नहीं मालूम ! गाय-भैंस पढ़े-लिखे लोग रखते हैं, और समझदार व्यक्ति गर्भाधान की तिथि से गाय और भैंस के बच्चे देने के दिन को जानते हैं। उसका सीधा हिसाब होता है। पर गाभिन भैंस या गाय के बच्चे देने के दिन निकट आते हैं, और यह पता नहीं चलता कि किस तिथि या तारीख के निकट गाय या भैंस बच्चा देगी। फल-स्वरूप उसकी देख-भाल में बड़ी कठिनाई होती है, और कभी-कभी असावधानी के कारण गाय और भैंस को कष्ट होता है। पर द्विवेदीजी के जीवन का मूल-मंत्र है—'योगः कर्मसु कौशलम्।' द्विवेदीजी की डायरियाँ देखने का लाइसंस तो मुझे मिल ही गया था। एक पृष्ठ पर लिखा था—

"गर्भाधान

सोनिया भैंस—लटियारा भैंसा—फागुन-सुदी ४ मंगल १९८९—मुताबिक २८ फरवरी, १९३३। हिंदी महीने के हिसाब से अगले पूस सं० १९९०, शुक्ल पक्ष की १३ से १५ तक बच्चा देगी।"

डायरी के एक और पृष्ठ को देखिए, और खेतों की उपज का ब्यौरा पढ़िए। गेहूँ, जौ, भूसे और अन्न का तो ब्यौरा है ही, पर द्विवेदीजी पतावर तक का पूरा हिसाब रखते हैं—

"१२-१-३४ से ५-२-३४ तक एक मजदूर झिलमा ने काटी।

जन०-फर० ३४ पतावर-पूले सेंठे-बोझ।

बरुवा खेत—५६६—५

दुलुवा के खेत—२०२—३

नाले की बाग—१५२—३

तारा की बाग—१४-०
बरगदवा बाग—७-०
M. O. 6/2/34
६०० पूले ढेर में रक्खे २४-२-३४

३३४ छाने के लिये अलग, १० कम निकले, ठेंकी के छप्पर में ७३, गाड़ीवाले में ६५।"

द्विवेदीजी का स्वभाव

बहुत-से हिंदी-साहित्य-सेवियों की धारणा है कि द्विवेदीजी का स्वभाव इस्पात की तरह कड़ा है। सदा आलोचना और कड़ी आलोचना करते रहने से उनकी कोमल भावनाएँ कुंठित-सी हो गयी हैं। उनकी तीव्र बुद्धि शीघ्र ही कमजोरियों को पकड़ लेती है, और उनका ऐसा पलस्तर बनाती है कि लोगों की खूबियाँ उनकी कलम से दिखाई ही नहीं पड़तीं। ये बातें हमसे दो-चार साहित्य-सेवियों ने वर्षों पहले कही थीं। पर ये सब खयाल दूषित दिमाग की उपज हैं, और पागलों का प्रलाप है। जो सब को स्वार्थ और ढोंग की दृष्टि से देखते हैं, उनका आचार्य के प्रति ऐसा खयाल होना स्वाभाविक है। वास्तविक बात यह है कि हिंदी-साहित्य में द्विवेदीजी धवलागिरि की धवल चोटी के समान स्वच्छ, पवित्र और महान् हैं। इतने महान् होते हुए भी उनका दिमाग बादलों में नहीं है, वरन् साधारण जनता में।

आचार्य द्विवेदीजी का स्वभाव इतना सरल और सरस है कि उनके लिये यह कहा जा सकता है कि वह करुणा के साक्षात् अवतार हैं—करुणा के परमाणुओं से बने हैं। उनके सामने 'मो-सम कौन कुटिल, खल, कामी ?' पढ़िए, और देखिए कि उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती है। यदि आपने कहीं दस-बीस ऐसे ही पद पढ़ दिये, तो बस वह मूर्च्छित होकर गिर जायँगे। यह स्वभाव उनका

बुढ़ापे के कारण नहीं, भरी जवानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुझारसिंहजी द्विवेदीजी के बड़े भक्त थे, और शायद बड़े संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदीजी उसमें नहीं पधारे, क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये, तो 'मो-सम कौन कुटिल, खल, कामी ?' गवाया। सुनकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। 'बिछुड़ गयी जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा'—जैसे स्त्रियों के गीत सुनकर द्विवेदीजी को मूर्च्छा आ जाती है।

तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदीजी के रोमांच होते और आँखों से जल-धारा बहते हमने कई बार देखा है। मेरा तो यह खयाल है कि भावावेश में उनका हृदय गलकर आँसुओं के रूप में निकल सकता है।

इसके मानी यह नहीं कि करुणा और दया से वह कर्तव्यच्युत होते हों। जो हृदय तनिक-सी चोट, दुःखियों की आह और पीड़ितों की चीत्कार से विह्वल हो जाता है, वह बात कहने और काम करने में पथ से विचलित नहीं होता।

'सरस्वती' के संपादन-काल में द्विवेदीजी अनेकों के कोप-भाजन इसीलिये बने कि उन्होंने उनकी थर्ड क्लास चीज को 'सरस्वती' में स्थान न दिया। एक साहित्य-सेवी ने अपने एक प्रियजन के निधन पर एक कविता लिख भेजी। थी वह थर्ड क्लास, द्विवेदीजी ने उसे नहीं छापा।

मैंने पूछा—"क्या बहुत रद्दी थी ?"

"वाहियात मर्सिया था। बाप मरे, मर्सिया नहीं लिखा ; स्त्री मरी, मर्सिया नहीं लिखा। दुनिया में मरते तो हैं ही। फिर कुछ कविता भी होती। हाँ, 'दबीर' और 'अनीस' के-से मर्सिये होते, तो क्या बात थी ! हिंदीवाले जाने, इनको पढ़ते हैं या नहीं। तुमने पढ़े हैं ?"

मैंने कहा—"जी हाँ, दस-बीस याद भी हैं। 'दबीर' साहब तलवार की तारीफ़ से प्रारंभ करते हैं—

निकली गिलाफ़-नूर से तफ़सीर जौहरी ;
या आके दस्तबोस सुलेमाँ हुई परी।

"बस-बस, आगे न कहो। हमें भावावेश हो जायगा।"

साफ़गोई और आत्मा की ध्वनि को कहने से वह कभी नहीं चूकते, चाहे किसी को अच्छा लगे या बुरा। साफ़ और ईमानदारी की बात कहने में वह चट्टान की भाँति अविचलित हैं। एक बार सरकार के एक उच्च कर्मचारी ने उनसे राजनीतिक परिस्थिति पर बात करनी चाही। द्विवेदीजी ने बात करने से पहले तो इनकार कर दिया, पर बहुत आग्रह करने पर कह दिया—"आपको कर्मचारी के खयाल से उत्तर नहीं दे रहा। पर, आप यह बताइये कि आपकी जोरू के गहने, कपड़े और खाने का कोई दूसरा प्रबंध करे, तो आपको अच्छा लगेगा?"

"बस-बस, पंडितजी, मैं समझ गया" कहकर वह कर्मचारी मुस्किरा दिये।

द्विवेदीजी का मनुष्यत्व

द्विवेदीजी का मनुष्यत्व उनके अगाध पांडित्य, साहित्य-सेवा और व्यक्तित्व से कहीं ऊँचा है—बेहद ऊँचा। वह जो कुछ करते हैं, काम और सेवा की खातिर करते हैं, और उसको निष्काम सेवा-वृत्ति से ही करते हैं। सर्टीफिकेट ऑव् ऑनर (सम्मान-सूचक सर्टीफिकेट) के लिये उनसे पिताजी का नाम पूछा गया, और द्विवेदीजी का उत्तर गया—"बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है, तब मैं समझता हूँ कि मुझे कैसरे-हिंद का तमगा मिला।" इसी प्रकार रायबहादुरी आदि फिजूल के पुछल्लों तक के लिये उनकी ओर संकेत किये गये, पर द्विवेदीजी ने नाम

और दिखावे का कभी खयाल नहीं किया। प्रारंभ से लगाकर अब तक उनकी धज निराली रही है।

हिंदी-साहित्य तो क्या, उनकी टक्कर के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में कितने हैं, पता नहीं।

प्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सन ने सर्वोत्कृष्ट रूप से कार्य समाप्त करनेवालों (finishers) के लिये जो बात कही है, वह द्विवेदीजी पर पूर्णतया लागू है। एमर्सन ने कहा है—

"मैं उस आदमी को सुखी समझता हूँ, जो सफलता का प्रश्न आने पर उत्तर के लिये बाजार, लोगों की सम्मति और दूसरों के आदर की ओर नहीं देखता, वरन् अपने काम पर दृष्टि डालता है। मानवीय कार्यों के प्रत्येक भाग--भेद--में, मशीन-संबंधी और ललित कलाओं में, जहाजरानी, कृषि और व्यवस्थापिका सभाओं में कुछ आदमी होते हैं, जो अपना काम फूहड़पने से करते हैं। बस, यों ही समय काटने के लिये और उतने ही बुरे ढंग से, जैसे वे करने का साहस कर सकते हैं। और, कुछ ऐसे भी काम करनेवाले होते हैं, जिनपर कि कार्य का मुख्य भार पड़ता है, जो कार्य से प्रेम करते हैं, और जो उचित ढंग से काम समाप्त करने की विधि से प्रेम करते हैं, जो कार्य को कार्य की खातिर ही समाप्त करते हैं। और, वह राष्ट्र और विश्व सुखी होता है, जिसमें ऐसे कर्मिष्ठ अधिक से अधिक होते हैं। ऐसे कर्मिष्ठ महानुभावों के प्रति संसार अंत में न्याय जरूर करेगा, और इसके अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकता।"

वास्तव में द्विवेदीजी के जीवन का प्रत्येक पहलू साहित्य-सेवियों, देश-भक्तों और निष्काम सेवा करनेवालों के लिये एक आदर्श है, और रहेगा।

श्रीराम शर्मा

बा० बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त रोहतक जिला के गुरियानी के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे। आप फारसी-अरबी के अच्छे जानकार आस्तिक हिन्दू थे। नयी रोशनीवालों की धाँधली पर बहुत चिढ़ते थे। पहले लाहौर से निकलनेवाले द्वि-दैनिक 'कोहेनूर' के सम्पादक थे। पीछे से उसको उन्होंने दैनिक भी कर दिया था। लेकिन, हिन्दी लिखने की रुचि उनको बहुत थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वे हिंदी-साहित्य में जब उतर आये तब उन्होंने उर्दू में लेख लिखना ही छोड़ दिया था। उर्दू में 'कोहेनूर' का सम्पादन करते समय भी लखनऊ के 'अवध-पंच' में 'मिस्टर हिन्दी' के नाम से बड़े चुटीले लेख लिखा करते थे।

गुप्तजी हिन्दी की दुनिया में जब आये तब पहले-पहल कालाकाँकर के दैनिक 'हिन्दोस्थान' के ही संपादक हुए। उससे पहले उन्होंने रत्नावली नाटिका लिखी थी। कालाकाँकर में आने पर उनकी ओजस्विनी लेखनी का जौहर हिन्दी के पाठकों को देखने का अच्छा अवसर मिला।

जिस समय वे 'हिन्दोस्थान' के संपादक होकर आये, संपादन-विभाग से पंडित मदनमोहन मालवीय बिदा हो रहे थे। राजा साहब से स्नेह होने के कारण मालवीयजी कभी-कभी कालाकाँकर पधारते थे, लेकिन

'हिन्दोस्थान' के संपादन का कार्य बाबू बालमुकुन्द गुप्त के हाथ में जा चुका था।

गुप्तजी के संपादकत्व में 'हिन्दोस्थान' अच्छा चमका। राजा रामपालसिंह उनके प्रभावशाली लेखों से बहुत प्रसन्न रहते थे।

बालमुकुन्द गुप्तजी सम्पादकीय सिद्धान्तों में बड़े पक्के थे। किसी की प्रशंसा करना या किसी की द्वेष-बुद्धि में आकर किसी की निन्दा छापना उनके स्वभाव में नहीं था, लेकिन वे कहा करते थे कि 'जिसको सरसों भर बुद्धि है उसका सरसों भर तक अभिमान क्षंतव्य है, लेकिन जो सरसों भर बुद्धि लेकर मटर भर घमण्ड रखता है वह जब तक सर्व-साधारण में अपना घमण्ड प्रकट न करे तभी तक क्षमा के योग्य है। अगर उसने ऐसा घमण्ड सर्वसाधारण में जाहिर किया तो अपना परिचित होने पर जरूर उसका प्रतिवाद करके मुखमर्दन करना चाहिये।'

गुप्तजी अच्छे अखबारनवीस थे। सम्पादक के कर्त्तव्य-पालन में उनमें हमने कभी कचाई नहीं देखी। जब वे 'हिंदोस्थान' के सम्पादक थे उस समय वहाँ पंडित प्रतापनारायण मिश्र, चौबे राधारमण, बी० ए० (दपवा), चौबे गुलाबचंद, और मैं भी सहायकों में था। मिश्रजी अच्छे प्रभावशाली कवि थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के समकक्ष कवियों में उनकी गणना थी। 'हिन्दोस्थान' में वे अक्सर कविता लिखा करते थे। 'तृप्यंतम्' नाम की एक कविता उन्होंने एक साल पितृपक्ष में वहीं लिखी थी। फसल पर गुप्तजी उनसे लेख भी लिया करते थे।

गुप्तजी को एक बार हमने व्यक्तिगत आक्षेप का लेख 'हिंदोस्थान' में लिखते देखा था। बात यह हुई कि साहित्याचार्य्य पंडित अंबिकादत्त व्यास उन दिनों भागलपुर-जिला स्कूल में हेडपंडित थे। वहीं से उन्होंने 'पीयूषप्रवाह' नाम का एक मासिक पत्र हिंदी में निकाला था। राजा

रामपालसिंह सुधारकों में अग्रगण्य थे। हिंदी का प्रचार, विधवा-विवाह और गोरक्षा के विषयों के लेख 'हिन्दोस्थान' में बहुत छपा करते थे। गुप्तजी में यह गुण था कि वे सुधारकों की उचित बात का विरोध कभी नहीं करते थे। 'पीयूषप्रवाह' में पंडित अंबिकादत्त व्यास ने 'काजीजी दुबले क्यों' नाम का एक लेख छापा, जिसमें राजा रामपाल सिंह पर यह आक्षेप था कि अत्रभवान् तो चाहते हैं कि सारा भारत इँगलैंड हो जाय, लेकिन जो मर्दुमशुमारी दस-दस साल पर पाँच-पाँच करोड़ बढ़ रही है उसी से यहाँ के लोगों को दोनों जून भरपेट खाने को नहीं मिलता और अब यदि अत्रभवान् के सिद्धांत पर विधवा-विवाह का भण्डा फूटेगा तो भारत की मेदिनी और भूखो मरने लगेगी।

वह लेख राजा साहब के सामने आया। उन्होंने कहा कि कोई इसका मुँहतोड़ उत्तर नहीं दे सकता। गुप्तजी ने उसी दम कहा—कल मैं इसका उत्तर 'हिंदोस्थान' में निकाल दूँगा।

उसी अवसर पर गुप्तजी ने 'हिंदोस्थान' में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'मैं सुकवि हूँ'। पंडित अंबिकादत्तजी व्यास अपनी कविता में अपना उपनाम 'सुकवि' लिखा करते थे। उस लेख में सुकविजी की खूब खबर ली गयी। व्यक्तिगत आक्षेप का वही एक लेख उनको हमने लिखते देखा था और सो भी 'डिफेमेशन' में नहीं आता था। कालाकाँकर से अपने स्वतंत्र स्वभाव के कारण गुप्तजी नौकरी छोड़कर घर चले गये।

राजा साहब से उनका साधारण व्यवहार था। उनका मन वहाँ नहीं लगता था। वे वैष्णव थे। रोज स्नान करके माथे पर श्री लगाते थे। आचरण के बड़े शुद्ध और सात्विक थे। लेकिन, जो आदमी खान-पान में अखाद्य-भोजी होता उससे उनकी नहीं पटती थी। नहीं पटने का केवल इतना ही मतलब कि हृदय का मिलान नहीं होता था। राजा साहब खान-पान में बड़े स्वतंत्र थे। वे अपने खाने-पीने के मामले में

स्वास्थ्य या भारतीय रवाज की कुछ भी परवा नहीं करते थे। इस कारण राजा साहब के यहाँ बिना बुलाये वे कभी नहीं जाते थे। जब बुलाने पर जाते तब जितना समय वहाँ बारादरी में उनका बीतता, उसको वे भार समझते थे। बल्कि कहा करते थे कि वह समय किसी अर्थ में नहीं लगा। लेख स्वयं लिखने के बजाय डिक्टेट कराना अधिक पसन्द करते थे। अंग्रेजी अखबारों को देखकर उनका स्वाद ले लेने की योग्यता उनमें काफी थी। किसी दूसरी भाषा से हिन्दी में लेकर कुछ बात लिखते थे तो केवल फैक्ट लेकर अपनी ओर से मौलिक की तरह लिखा करते थे। किसी की लकुटिया लेकर टेकते चलना अर्थात् शब्दानुवाद करना उनको नहीं भाता था। विलायती रहन-सहन और सभ्यता को बिलकुल नापसन्द करते थे। लेकिन, उसमें जो गुण पाते उनसे कभी घृणा नहीं करते थे। आर्य-समाज में घासपार्टी और मांसपार्टी उस समय हुई थी जब महाराजा जोधपुर ने विज्ञापन देकर वेदों से मांसाहार सिद्ध करने का प्रयास किया था। पण्डित भीमसेन शर्मा ने बड़े निःशङ्क भाव से उस कार्य का विरोध किया और पंडित भास्करानन्द सरस्वती (काशी के प्रसिद्ध महात्मा भास्करानन्द नहीं) ने वेदों से मांसाहार विधेय बतलाने का बीड़ा उठाया था। उस समय उन्होंने कहा कि आर्य-समाज अब पतनोन्मुख हुआ है। आर्य-सिद्धान्त का युग समाप्त करके जब पंडित भीमसेन शर्मा ने 'ब्राह्मण-सर्वस्व' का मार्गावलम्बन किया तब गुप्तजी ने कहा था कि पंडितजी ने अच्छा किया कि सबेरे के भूले हुए संध्या को घर आ गये। लेकिन, इस तरह उजरत पर सिद्धान्त बदलना वजन नहीं रखता।

अंग्रेजी-बँगला दोनों के अखबार पढ़ा करते थे, लेकिन उर्दू के अखबारों को बड़े चाव से पढ़ते थे। 'कोहेनूर', 'शमशुल अखबार' अमृतसर का 'सद्धर्म-प्रचारक' केवल उनकी लन्तरानियों का जवाब देने के लिए पढ़ा करते थे। पायनियर, मार्निङ्गपोस्ट और सिविल-मिलिटरी-गजट में खबरें न पढ़कर अग्रलेख और स्फुट सम्मतियों को बड़े चाव से

पढ़कर उनका उत्तर 'हिन्दोस्थान' में और कलकत्ते के प्रवासकाल में, 'भारतमित्र' में दिया करते थे। लखनऊ के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा द्वारा सम्पादित उर्दू का साप्ताहिक 'हिन्दुस्तानी' बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पढ़ा करते थे।

'वंगवासी' के मालिक श्रीयुत योगेन्द्रचंद्र बसु ने वङ्गभाषा में 'मड़ेल-भगिनी' नाम का एक बड़ा उपन्यास लिखा था। उसमें सुधारकों की खासी खिल्ली उड़ायी गयी है। गुप्तजी को वह पुस्तक हिन्दी में लिखने के लिये दी गयी। गुप्तजी ने अपने घर गरियानी से ही उसको पढ़कर 'शिक्षिता हिन्दूबाला' के नाम से 'हिन्दी-वङ्गवासी' में छपने को भेजना शुरू किया था, जो 'हिन्दी-वङ्गवासी' में बड़ी धूमधाम से बहुत दिनों तक छपता रहा। उस समय 'हिन्दी-वङ्गवासी' के सम्पादक पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती थे। गुप्तजी उसी समय 'हिन्दी-वङ्गवासी' के संपादनकार्य के सिलसिले में कलकत्ते बुलाये गये। लेकिन वहाँ अंध-परंपरा का राज था। इस कारण उस कार्यालय में गुप्तजी नहीं ठहर सके। बात यह हुई कि उन दिनों व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा हिंदी के अद्वितीय वक्ता थे। जब कलकत्ते पधारे तब गुप्तजी 'हिन्दी-वंगवासी' के संपादक थे। पंडित दीनदयालु शर्मा के व्याख्यानों से कलकत्ते के धनी-मानी मारवाड़ी सज्जनों का आसन डोला और सनातनधर्म की उन्नति में जी खोलकर तन; मन, धन से बड़े-बड़े धनी मारवाड़ी उतारू हो गये। 'वंगवासी' के मालिक लोग उन दिनों कलकत्ते में 'धर्मभवन' बनवाने पर तुले हुए थे। व्याख्यान-वाचस्पति से धर्मभवन-वालों की पटरी नहीं बैठी। गुप्तजी ने पंडित दीनदयालुजी का विरोध करने से इनकार कर दिया, इसी से उनको 'वंगवासी-कार्यालय' छोड़ देना पड़ा।

जब गुप्तजी वहाँ से अलग हुए, कलकत्ते के सदुद्योगी बाबू जगन्नाथदास ने उसी समय 'भारतमित्र' का संपादन-भार गुप्तजी को

सौंपना चाहा। लेकिन, गुप्तजी ने इस तरह एक साप्ताहिक हिंदी को छोड़कर दूसरे को हाथ में लेना अपनी मर्यादा के बाहर समझकर अनुचित बतलाया और कहा कि घर जाते हैं, वहाँ से आपकी बुलाहट होगी तो मैं आ जाऊँगा।

वही बात हुई। घर पहुँचते ही गुप्तजी को 'भारतमित्र' के मालिकों की बुलाहट गयी। गुप्तजी 'भारतमित्र' का संपादन-भार लेकर फिर कलकत्ते लौटे।

गुप्तजी ने 'भारतमित्र' को ऐसा उन्नत किया, जैसा वह अपनी चालीस वर्ष की ज़िन्दगी में कभी लोकप्रिय नहीं हुआ था। 'भारतमित्र' एक सुधारक पत्र था; लेकिन सनातनी सिद्धान्त का शत्रु नहीं था। गुप्तजी ने उसकी नीति किसी पक्ष पर नहीं, सत्य पर रक्खी और दो टूक न्याय की बात कहना उन्होंने अपना सिद्धांत रक्खा। इस कारण सब पक्ष के लोग 'भारतमित्र' की नीति से प्रसन्न थे। लोगों में 'भारतमित्र' की बड़ी मर्यादा बढ़ी। गुप्तजी व्यंग्यभरी कविता भी 'भारतमित्र' में समय-समय पर लिखते थे। उनकी बहुत-सी कविताओं का संग्रह 'स्फुट कविता' के नाम से भारतमित्र-प्रेस से निकला था। उनके 'भारतमित्र' में आने से पहले पंडित रुद्रदत्त शर्मा 'भारतमित्र' के संपादक थे। उनके लेखों से 'भारतमित्र' के सनातनधर्मी पाठक बहुत हट गये थे। गुप्तजी की निर्भीक और निष्पक्ष लेखनी से सब प्रसन्न हो गये और 'भारतमित्र' का प्रचार खूब बढ़ा। गुप्तजी हमारे ऊपर बड़ी कृपा रखते थे। वे अपने लड़के बाबू नवलकिशोर की शादी में जब घर गये, तब 'भारतमित्र' का संपादन-भार कुछ महीनों के लिये हमको ही देकर गये थे। हमारे ऊपर उनका जैसा स्नेह था, वैसा ही हमारा विश्वास भी वे करते थे।

गुप्तजी हँसोड़ इतने थे कि बात-बात में दिल्लगी किया करते थे। वे उर्दू की लिखावट की बड़ी खिल्ली उड़ाया करते थे। जब 'अभ्युदय'

निकला तब उन्होंने कहा था कि उर्दू में वह लिखा जाय तो 'ओवेहूदे' पढ़ा जायगा। उन दिनों 'भारतमित्र' आफिस में अच्छे-अच्छे सुलेखकों का जमाव था। 'उचितवक्ता' के संपादक पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र सारस्वत हिंदी-लेखकों के सिरताज तथा सबके श्रद्धाभाजन थे। वे भी वहाँ पधारकर दो घड़ी की मौज दे देते थे। गुप्तजी में और पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी में बड़ी आवाजकशी होती थी। चतुर्वेदीजी हास-परिहास के प्रेमी थे, गुप्तजी भी उसी केमाश के परिहास-प्रिय थे।

गुप्तजी कभी-कभी ऐसी गहरी दिल्लगी करते थे कि उसका मतलब समझ में नहीं आता था। तब उनको स्पष्ट कहकर समझाना भी पड़ता था। हमसे कई बार ऐसा हुआ था। गुप्तजी होली में दिल खोलकर अखबारों से दिल्लगी करते थे और दशहरे के अवसर पर भी 'टेसू आये' लिखकर हिंदी-पत्रों में टेसू की दिल्लगी किया करते थे। उनके पहले किसी ने कभी हिंदी में टेसू पर दिल्लगी नहीं की थी। समालोचना भी दशहरे और होली के समय गुप्तजी बड़ी बेढब लिखते थे।

गुप्तजी की दिल्लगी व्यक्तिगत होकर भी श्लेष भरी होती थी कि व्यक्तिगत नहीं होने पाती थी। जिसके ऊपर बोली बोलते और दिल्लगी बनाते थे, वह भी हँसने लगता था। वस्तुतः दिल्लगी का अर्थ यही है कि जिससे दिल्लगी की जाय उसको भी हँसी आवे। ऐसी दिल्लगी, जिससे हँसने के स्थान में रुलाई आवे या अदालत में मानहानि की नौबत हो, वह दिल्लगी काहे की, वह तो राह चलते भलेमानस की पगड़ी उतारने के समान होती है।

गुप्तजी की लेखनी में बड़ा बल था। जिस विषय को लेते थे उसको जिस तेजी से आरंभ करते थे, अन्त तक उसे उसी ओज से ले जाते थे। कलकत्ते के ठाकुर घराने की धनी, शिक्षित और शिष्टजनों में बड़ी मान-मर्यादा है। एक माननीय ठाकुर ने अश्रुमती नाम का एक नाटक लिखा था, जिसमें राजपूत-महिलाओं के सम्मान पर गर्हित आक्षेप था। उसका

अनुवाद 'भारत-जीवन' के बाबू रामकृष्ण वर्मा ने छापा। उसको देखकर गुप्तजी बहुत ही बिगड़े और उसकी बड़ी कड़ी आलोचना की। अन्त में बाबू रामकृष्ण वर्मा को उस पुस्तक को गङ्गाप्रवाह करके प्रायश्चित्त करना पड़ा। ऐसी घटना हिन्दी-साहित्य में उसके सिवा कभी सुनने में नहीं आयी। भूल सबसे होती है; लेकिन भूल कबूल करके प्रायश्चित्त करना बहुत बड़े हृदय का काम है। और वस्तुतः भूल का दंड भी यही है कि भूल कबूल कर ली जाय। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने उस भूल को कबूल करके उचित सफाई दी थी।

जो नेता लोग दिखौआ ठाठ रखते और नाम पैदा करने के लोभ में ही देशहित के कार्यों की ओर मन नहीं देते थे, उनपर गुप्तजी अपने पत्र में समय-समय पर आक्षेप किया करते थे। वे धर्म के ढकोसले कुछ नहीं करते थे। धर्म के नाम पर ढोंग करनेवालों की चालें वे खूब समझते थे और उनपर दशहरे और होली के अवसर पर गद्य और पद्य में व्यंग्य लिखकर मन का गुबार निकाला करते थे। यह भी कहा करते थे कि मनु ने जो मेड़ें तैयार की हैं, उनको तोड़नेवाली बाढ़ कभी आवेगी।

गुप्तजी हरियाने के रहनेवाले थे। इस देश की गायों को देखकर बहुत दुखी हुआ करते थे। इसका बड़ा पश्चात्ताप करते थे कि जहाँ से यह रत्न दुहा करते हैं, उस भांडार के कल्याण का कुछ भी ध्यान रखते तो यह मैयारूपिनी गैया इस तरह दीन-दशा में दिन न बिताती।

अफसोस! गुप्तजी बहुत जल्दी अकाल में ही संसार से उठ गये। उनको प्रमेह रोग था, जो सन् १६०८ में इतना प्रबल हुआ कि बहुत कुछ उपचार करने पर भी शान्त नहीं हुआ। उसी पीड़ा से गुप्तजी को लाचार होकर घर जाना पड़ा। घर पहुँचते ही उनका देहावसान हो गया।

—गोपालराम गहमरी

पं० पद्मसिंह शर्मा

शर्माजी से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य स्वर्गीय रामजीलाल शर्माजी की कृपा से मुझे सं० १६२६ में प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात् दिन-ब-दिन उनकी कृपा मुझपर बढ़ती ही गयी। शर्माजी जब प्रयाग पधारते, तो अवश्य खोजकर मुझे दर्शन दे जाते थे। अनेक बार उनके सत्संग का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

शर्माजी हिंदी, संस्कृति, उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे। हिंदी के प्राचीन साहित्य के एक मार्मिक पंडित तथा उसके गुणों को परखनेवाले थे। उनको ब्रज-भाषा के सैकड़ों उत्तमोत्तम छंद याद थे, तथा उनकी नोट-बुकों में दर्ज थे। ब्रज-भाषा के कवियों में वे विहारी, मतिराम, घनानंद आदि के बड़े भक्त थे और प्रायः ऐसे लोगों से उनकी सूक्तियाँ सुना करते थे, जिन्हें इन कवियों के छंद कंठस्त रहते थे। खड़ी बोली के कवियों में पं० नाथूराम शंकर शर्मा और बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ उन्हें खूब पसंद थीं। शंकरजी के अपार भक्त थे। उनकी कविताएँ पढ़ते-पढ़ते और कविताओं के शब्दों तथा अर्थ-गांभीर्य की व्याख्या करते-करते वे थकते न थे। शंकरजी के 'अनुराग-रत्न' के छंदों को वे प्रायः स्वयं ढूँढ़-ढूँढ़कर सुनाया करते थे और जिसका कंठ पढ़ने

में मधुर होता था, उसे सुनाने के लिये प्रोत्साहित करते थे। संस्कृत के पंडित थे। माघ, पंपट, बाण, कालीदास के श्लोक वे अक्सर कहते सुने जाते थे। शर्माजी साहित्य के मर्मज्ञ थे। इसमें संदेह नहीं कि वे काव्य तथा साहित्य की बारीकियों को खूब समझते थे। कभी-कभी वे किसी-किसी कविता का ऐसा चमत्कारित अर्थ करते थे कि आश्चर्य होता था। महाकवि अकबर के काव्यों का रसास्वादन वे जिस खूबी के साथ कराया करते थे, उनकी कविताओं की बारीकियों और अनोखी सूझ की वे जैसी व्याख्या करते थे, और उससे जो आनंद प्राप्त होता था, वह वास्तव में उनके चले जाने पर रह-रहकर स्मरण आते हैं।

किसी भी साहित्यकार या कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक छकड़ा पोथी ही लिखकर मरे, तभी अमर हो सकता है। नहीं तो नहीं पं० पद्मसिंह शर्मा इन छकड़ों पोथी लिखनेवालों में से नहीं थे—वरन् उन्होंने हिंदी में एक ऐसी शैली ईजाद की, तथा हिन्दी को एक ऐसी चीज भेंट की, जिससे उनका नाम अमर रहेगा। गद्य को ऐसे मनोरंजक रूप में उन्होंने जनता के सम्मुख रखा कि सबका ध्यान इस नयी वस्तु की ओर आकर्षित हो उठा। दूसरी चीज है समालोचना। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के बाद हिंदी में समालोचना का केवल रस्म ही अदा किया जाता था। उस समय की समालोचना का आलोचना-साहित्य में कोई विशेष मूल्य नहीं रहता था। परंतु, पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' लिखकर संस्कृत, उर्दू, फारसी और हिंदी के कवियों तथा उनकी कृतियों की तुलना करते हुए, जो आलोचना लिखी, वह एकदम नयी थी। इन्हीं दो कार्यों ने पंडितजी का नाम हिंदी में अमर कर दिया, और इसी से वे आचार्य माने जाने लगे।

शर्माजी बड़े निष्पक्ष समालोचक थे। कुछ लोगों का ख्याल था कि पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र सनातन धर्मावलम्बी थे, और शर्माजी आर्य-समाजी, इसलिये शायद उन्होंने मिश्रजी की सतसई की टीका की

आलोचना की। परंतु, यह बात बिल्कुल असत्य थी। शर्माजी से हमने इसी संबंध में एक बार पूछा भी था; परंतु उन्होंने यह साफ तौर से बतलाया कि आलोचना लिखने में जरा भी भेद-भाव नहीं था—केवल साहित्य में धाँधलेबाजी और एक इतने बड़े कवि के काव्य की दुर्दशा होते देखकर ही आलोचना लिखी गयी थी। शर्माजी स्पष्टवादी थे। वे किसी भी पुस्तक के संबंध में अपनी सच्ची राय देते जरा भी संकोच नहीं करते थे। उनकी आलोचकवृत्ति से वास्तव में बहुत-से लोग घबड़ाते थे। जब 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' की उर्दू पुस्तक की समालोचना उन्होंने 'विशाल भारत' में प्रकाशित करवाई, उस वक्त बड़े-बड़े एकेडेमी के धुरंधरों—खासकर उर्दूदाओं—के कान खड़े हो गये थे। एक बार का जिक्र है कि बिस्मिल इलाहाबादी ने अपनी कविताओं के संग्रह 'कलामे-बिस्मिल' में पंडितजी से भूमिका लिखने का आग्रह किया। वह संग्रह हिंदी-प्रेस के मालिक स्व० पं० रामलालजी शर्मा प्रकाशित करने जा रहे थे। बहुत कुछ दबाव डालने पर उन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया। खैर, भूमिका लिखी गयी; परंतु उस भूमिका से बिस्मिल साहब संतुष्ट नहीं हुए। इसलिये पंडितजी से यह आग्रह किया गया कि वे उसमें कुछ तरमीम कर दें। पं० रामजीलाल शर्मा ने भी ऐसी ही इच्छा प्रकट की थी। परंतु, शर्माजी ने यह स्पष्ट लिख दिया कि यदि भूमिका छपे, तो वही छपे, नहीं तो नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपने विचारों में दृढ़ थे। यद्यपि बिस्मिल साहब से उनका खासा परिचय था, परंतु बिस्मिल साहब की कविताओं के संबंध में जो उनकी राय थी, उसको उन्होंने स्पष्ट प्रकट कर दिया।

पंडितजी हास्यप्रिय भी खूब थे। जब वे प्रयाग पधारते तब बड़ा आनंद रहता। चाय के बड़े शौकीन थे। गरमा-गरम चाय पिलाते रहिये तो फिर क्या पूछना। बड़े प्रसन्न रहते थे। हिंदी-प्रेस के मालिक पं० रघुनंदन शर्मा के छोटे भाई श्री ब्रजनंदन शर्मा की हाजिरी उन्हें चाय

बनाकर पिलाने की थी। चाय पीने के लिये लोगों की जमात बैठ जाया करती थी। हमलोग तो नये पीनेवाले थे, इसलिए बूरे की हमलोग आवश्यकता अधिक महसूस करते थे। परंतु, जो वास्तविक रूप से चाय के पियक्कड़ होते हैं, उन्हें बूरे की साधारणतः ही आवश्यकता रहती है। मैंने ब्रजनंदन से कहा कि जरा चाय में बूरा ज्यादा डाल देना। इतना सुनते ही पंडितजी बोल उठे—"नहीं जी, तुम्हें मालूम नहीं—चाय में बूरा उतना ही होना चाहिये, जितना लीडरों में ईमान।"

एक बार 'भारत' में "लोढ़ाराम" ने रीडर-बाजों पर एक मजाक लिख दिया—

हमारे सैयाँ होइ गैलेन रीडरबाज।

सावन बादर रिम-झिम बरसत ठहरि ठहरि के मो जिय तरसत,

आवन कहिगे अजहूँ न आये—कनवेंसिंग ते आज। हमारे०

एक अध्यापक महोदय उन दिनों प्रयाग पधारे थे। अध्यापकजी पर भी उन्हीं दिनों दो-एक मजाक निकले थे। इस पद्य के निकलते ही अध्यापक महोदय को संदेह हुआ कि यह भी मेरे ही ऊपर मजाक है। हमलोग सब बैठे हुए थे। पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी भी उस दिन भगवान की दया से, मजलिस को सुशोभित कर रहे थे। पंडितजी तो उन दिनों हिंदी-प्रेस में रहते ही थे। वे भी रीडरबाजी के चुटकुलों पर खूब आनंद लेते थे। हाँ, तो मजलिस में अध्यापकजी बिगड़ रहे थे। अध्यापकजी ने कहा—"देखो, यह भी मेरे ही लिये है और किसके लिये है, बताइये आपलोग?" शर्माजी ने हँसते हुए कहा—"अरे अध्यापकजी! आप तो विधुर हैं, आपके बिगड़ने से तो यह मालूम होता है कि आपकी कोई उपपत्नीजी भी हैं। क्योंकि, आप रहते हैं कनवेंसिंग में, और उपपत्नीजी सावन के बादल देख-देखकर घबराती होंगी।" बेचारे अध्यापकजी बन गये। सब लोग हँस पड़े।

साहित्य-सेवियों का आदर भी शर्माजी खूब करते थे। वे जहाँ जाते थे, यदि कोई साहित्यिक वहाँ होता, तो उससे अवश्य मिल आते थे। वे इससे अपनी हतकइज्जती नहीं समझते थे। एक बार जब वे प्रयाग पधारे, तब उन्होंने अकबर साहब की कब्र के दर्शन की इच्छा प्रकट की। पता लगा कि लूकरगंज मुहल्ले के समीप कबरिस्तान में उनकी कब्र है। पंडितजी एक दिन लीडर प्रेस आये। हमें अपने साथ लेकर अकबर साहब की कब्र की तलाश में गये। बड़ी खोज के बाद कब्र मिली। कब्र की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुखी हुए, और उनके पुत्र महोदय को उन्होंने बहुत धिक्कारा और कहा कि देखो, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है। इतने बड़े कवि की कब्र की ऐसी दुर्दशा हो रही है—एक तखती भी नहीं लगायी गयी कि लोग पढ़कर जान तो लें कि कब्र है कौन-सी।" फिर उन्होंने इधर-उधर फूले हुए कुछ फूल तोड़कर बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनकी कब्र पर चढ़ाये। इसका उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि उनके हृदय में साहित्य-सेवियों के प्रति कितनी श्रद्धा थी और ऐसा होना आवश्यक भी है। शेक्सपियर आदि के स्मृति-स्थान आज इंगलैंड के लिये ही नहीं, वरन् यूरोपीय देशों के लिये भी तीर्थ-सम पवित्र हो रहे हैं। प्रयाग में रहते हुए वे अकसर कहा करते कि किसी दिन द्विवेदीजी के दर्शन के लिये दौलतपुर चलना चाहिये, परंतु उनके मन की मन ही में रह गयी। जिन दिनों द्विवेदीजी महाराज प्रयाग पधारे, उन दिनों पंडितजी प्रयाग में नहीं थे। द्विवेदीजी के स्वागत की खबर अखबारों में पढ़कर शर्माजी ने पं० रघुनंदन शर्मा को जो पत्र लिखा था, वह बड़ा हृदयग्राही था। पत्र में लिखा था—"तुमने द्विवेदीजी का खूब सम्मान और आदर किया, इसे पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई—परंतु मेरा दुर्भाग्य कि उनके दर्शनों से वंचित रह गया।

पंडितजी का स्वभाव बड़ा सरल था। जिसका उनसे सम्पर्क हो जाता था, उसका गुणगान वे बराबर करते रहते थे—चाहे वह छोटा हो

या बड़ा ; इसकी उन्हें फ़िक्र नहीं थी। जिससे उनकी जान-पहचान हो जाती थी, उसे वे भूलते नहीं थे।

पंडितजी काव्य-प्रेमी भी ऊँचे दर्जे के थे। काव्य-चर्चा करते रहिये, कविताएँ सुनाते रहिये, वे रात-रात और दिन-दिन भर आपसे पिछड़ने-वाले नहीं थे। कवि-सम्मेलनों में जाते थे और अच्छी कविताओं पर दाद भी खूब देते थे। वे अखाड़िये व्यक्ति थे। बड़े-बड़े मुशायरों और कवि-सम्मेलनों का निरीक्षण भी उन्होंने किया था ; इसलिये कवियों को प्रोत्साहन देना और उनसे कविता सुनाने के लिये कहने की तरकीब वे खूब अच्छी तरह जानते थे। नवयुवकों को वे काफी प्रोत्साहन देते थे। आगरे के श्रीपतिलाल दुबे को खास तौर से पंडितजी ने ही ट्रेनिंग दी थी कि वे कविता अवश्य सुनाया करें। पंडितजी में सचमुच यह एक बड़ा जबर्दस्त गुण था कि वे अपने लोगों का विज्ञापन खूब करते थे। अपने किसी भी व्यक्ति की तारीफ़ करने में वे जरा भी संकोच नहीं करते थे। उनका विचार था कि कवि-सम्मेलन होने चाहिये, और वहाँ सुंदर कविताओं की प्रशंसा होनी चाहिये तथा उनकी दाद भी यथेष्ट मिलनी चाहिए। शर्माजी इसी अपने गुण तथा काव्य-मर्मज्ञता के कारण कितने ही कवि-सम्मेलनों के सभापति भी चुने गये थे।

एक बार का जिक्र है कि दशहरे के अवसर पर कालाकाँकर के राजा अवधेशसिंह ने अपने यहाँ कवि-सम्मेलन करने का निश्चय किया। कवि-सम्मेलन के संयोजक थे राजा साहब के अनुज भाई सुरेश-सिंहजी। श्री सुमित्रानंदन पंत भी योग दे रहे थे। इन लोगों ने हमें लिखा कि किसे सभापति बनाना चाहिये। हमने राय दी कि किसी प्रसिद्ध कवि को सभापति बनाइये; परंतु कवि-सम्मेलन को केवल दो ही तीन दिन रह गये थे। कोई कवि कालाकाँकर जाने के लिये तैयार नहीं हुआ—कुछ न कुछ अड़चन हरएक को पड़ गयी। उन्होंने फिर हमें लिखा। हमने उन्हें सलाह दी कि पं० पद्मसिंह शर्मा को सभापति चुन

लीजिये। वे इस समय प्रयाग ही में हैं। मैं प्रयत्न करूँगा कि वे कालाकाँकर चले आवें। अंत में निश्चय भी यही हुआ। उन्होंने पंडितजी को निमंत्रित किया। पं० रघुनंदन शर्मा को भी निमंत्रित किया। शाम को कवि-सम्मेलन था और भाई सुरेशसिंहजी का तार पहुँचा करीब ११ बजे दिन को। बड़ी कठिनाई हुई। पहले तो शर्माजी राजी ही न होते थे। बड़ी आरजू-मिन्नत की गयी। खैर, यह निश्चय हुआ कि मोटर से चलना चाहिये। शर्मा-द्वय और हम—अर्थात् तीन ब्राह्मण—एक साथ चल पड़े। डर तो लगा कि तीन का साथ चलना खतरनाक ही है। खैर, किसी तरह रास्ता पूर्ण हुआ। रास्ते में एक गाय भवानी की बलि होते-होते बची। हमलोग भी बचे—न जाने किस पुण्य के बल से। हाँ, तो रात को कवि-सम्मेलन कालाकाँकर में हुआ। पहले पंडितजी का एक भाषण हुआ, जो बड़ा सारगर्भित था। राजा साहब बड़े ही प्रसन्न हुए। वे पंडितजी की योग्यता पर मुग्ध हो गये। कवि-सम्मेलन में यद्यपि कविता सुनानेवाले थोड़े ही थे, परंतु पं० पद्मसिंहजी के कारण ऐसा समाँ बँध गया कि वास्तव में कवि-सम्मेलन बड़ा सफल हुआ।

सम्मेलन करीब ३ बजे रात को खतम हुआ। अन्त तक आप अपने ट्रेन्ड किये हुए शिष्य श्रीपतिलाल दुबे की याद करते रहे। कहते थे कि दुबेजी होते, तो कविता खूब सुनाते।

पंडितजी के राजनीतिक तथा सामाजिक विचार भी बड़े ऊँचे थे। राजनीतिक क्षेत्र में वे मुसलिम कट्टरता के बड़े विरोधी थे। वे हिंदुत्व के बड़े पक्षपाती थे। लाला हरदयाल और भाई परमानन्द के विचारों के समर्थक थे। वे कहा करते थे कि वास्तव में कट्टरपंथी मुसलमानों को जवाब देने के लिये यही दोनों नेता ठीक हैं। महात्माजी तो महात्मा हैं। पूज्य पं० मदनमोहन मालवीयजी गोलमेज कानफरेंस में जाने के लिये जब विलायत जा रहे थे, तब वे एक दिन के लिये प्रयाग भी पधारे। उन दिनों शर्माजी प्रयाग ही में थे। जब उन्हें पता चला कि पूज्य

मालवीयजी प्रयाग पधारे हैं, तब सलाह हुई कि आज उनके दर्शन किये जायँ। हमलोग शाम को पूज्य मालवीयजी के यहाँ पहुँचे। मालवीयजी उसी समय आये थे—बैठे ही थे। उनके दो मित्र भी उनके पास उपस्थित थे। हमलोग पैर छूकर बैठ गये। आपस में कुछ देर तक बातचीत होती रही। एकाएक शर्माजी ने कहा—महाराज! आपने तो हिंदुओं को एकदम ही भुला दिया। सिंध भी आपने सौंप दिया। वह देखिये, काश्मीर एक हिंदू-राज्य था, वह भी हाथ से जा रहा है (उन दिनों काश्मीर के विरुद्ध खूब आन्दोलन हो रहा था)।

मालवीयजी—नहीं शर्माजी, ऐसी बात नहीं है। हमने जो कुछ किया है, वह हिंदू-महासभा के प्रस्ताव के अनुसार ही किया है। हम अपने अधिकार के लिये अन्त तक लड़ेंगे।

शर्माजी—देखिये, काश्मीर पर क्या-क्या बीत रही है। कोई अंग्रेजी पत्र इसपर कुछ भी नहीं लिख रहा है। आप ही जब अलग होते जा रहे हैं तब क्या किया जाय। सुना है, 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने भी काश्मीर के विरुद्ध कुछ छापा है।

मालवीयजी—नहीं शर्माजी, क्या करें। बड़ी भारी जिम्मेदारी है। समय को देखकर कार्य करना पड़ता है। 'लीडर' ने दो-तीन नोट काश्मीर के संबंध में लिखे हैं। (अपने सुपुत्र पं० रमाकांत मालवीय की ओर इशारा करके) देखो जी, सुना है, 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने कोई लेख छापा है। जरा देखकर एक पत्र तो उन्हें लिख देना।

पं० पद्मसिंहजी का हृदय गद्गद हो उठा। हमलोग जब पूज्य मालवीयजी से मिलकर घर आने लगे, तब रास्ते में बोले—मालवीयजी पूज्य हैं, महात्मा हैं। क्या करें बेचारे, सबको प्रसन्न रखना चाहते हैं—किसी से बिगाड़ नहीं चाहते। साधु पुरुष हैं।

आजकल के राजनीतिक क्षेत्र में 'लीडरों' का वे बड़ा मजाक उड़ाया करते थे। 'लीडर-लीला' नामक एक मजाक भी लिखना चाहते थे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के जलसे के अवसर पर जब उन्होंने अपना व्याख्यान पढ़ा था, तब बड़े-बड़े मुल्लाओं ने जो उर्दू के बड़े नामी-गरामी थे, 'पंडित साहब' से हाथ मिलाया था। लाहौर के जस्टिस अब्दुल कादिर ने आपका व्याख्यान सुनकर कहा—"पंडित साहब, आपका लेक्चर वाकई काबिले-तारीफ रहा। हमलोगों के दिल को आपने वाकई बाँध लिया।" जस्टिस सुलेमान ने भी आपका बड़ा सम्मान किया। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उर्दू के लेखक अहमन्यता के अवतार होते हैं। वे अपनी भाषा की उन्नति में मुसलमान को छोड़कर दूसरे की रत्ती भर भी परवा नहीं करते। परन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा अपनी उर्दू की योग्यता की बदौलत उन उर्दू वालों में भी प्रशंसित हुए। हिंदुस्तानी एकेडेमी के एक साहब तो एक दिन बोले कि जनाब अगर शर्माजी का देहान्त न हो गया होता, तो क्या आश्चर्य कि वे एक दिन हिंदुस्तानी एकेडेमी के मंत्री हो जाते। व्याख्यान के बाद ही वे कानपुर गये और कानपुर से अपने घर। वहाँ प्लेग का प्रकोप था, वहीं उनका देहान्त हो गया। यह कौन जानता था कि पं० पद्मसिंह शर्मा हमलोगों के बिछुड़ने के केवल दस-पन्द्रह दिन बाद ही इस संसार में न रहेंगे। उनकी अनेक बातें रह-रह के याद आती हैं। एक बार पंडितजी के सामने हमलोगों ने एक प्रस्ताव रखा कि आप 'लिप्टन्स टी' के मालिक के पास एक 'एप्रिसियेशन' लिखकर भेजिये कि हमने तुम्हारी चाय के सबसे अधिक डिब्बे खर्च किये हैं। इसलिये बुढ़ापे में चाय हमें मुफ्त मिलनी चाहिये। इस मज़ाक को उन्होंने खूब पसंद किया था।

पंडितजी जब प्रयाग पधारते थे, तब वे हिन्दी-प्रेस में ही ठहरते थे। पं० रघुनंदन शर्माजी उन्हें पिता-तुल्य अपने यहाँ रखते और सेवा-शुश्रूषा करते थे। इसी से हमलोगों के साथ भी अक्सर उठना-बैठना होता था। अब उनके न रहने पर केवल उनकी स्मृति ही बाकी है।

—ज्योतिप्रसाद मिश्र

मुंशी प्रेमचंद

१९३३ का मध्य जुलाई महीना और मैं नया-नया बनारस में—उदयपुर से इतनी दूर पहली दफा उत्तर-भारत के इस प्राचीन-ख्यात नगर में। जलती हुई दोपहर; पैदल मैं और एक मेरे ताजे परिचित साथी चले जा रहे हैं—सरस्वती प्रेस का पता पूछते-पाछते। कभी कबीर-चौरा, कभी दालमण्डी होते हुए चौक—यों हम प्रेमचंदजी से पहली मुलाकात के लिये विश्व-विद्यालय से चले जा रहे हैं। मन में एक आतुर उमंग भरा, पर शंकित द्वंद्व मच रहा है—मिलेंगे तो? पर किस तरह पेश आयेंगे?—ध्रुवसाहब की भाँति तो नहीं, एक सहमा देनेवाले रुआब में; उदयपुर के बड़े आदमियों की भाँति तो नहीं—ऊपर से मीठे, मन में कड़ुवे।

मेरे मन का वह द्वंद्व स्वाभाविक था। एक बात और भी थी। १९२७ (मैं स्मृति से लिख रहा हूँ) का एक प्रातःकाल मुझे प्रेमचंदजी से मन में, विचार में सम्बद्ध कर गया। 'रंगभूमि' पढ़कर मैंने अपने ममेरे भाई से सवा आने की कोई कॉपी माँग ली और एक उपन्यास प्रारंभ किया। वह प्रेरणा-स्रोत जैसे पाताल भेद कर आया था, जिसने मुझे मरुभूमि में जीवित रखा। वह जैसे एक अद्वितीय चिनगारी थी,

जो मेरे मन के अंधकार में जल उठी ; जिसने अब तक मुझे रोशन रखा है। १९३३ तक मुझपर कई उल्कापात हुए। पहला उपन्यास जो मैंने प्रेमचंदजी को १९२८ में प्रकाशनार्थ भेजा था, एक सज्जन मेरे जाली हस्ताक्षर कर उड़ा ले गये और प्रेमचंदजी पुरस्कार भेजते-भेजते रह गये। उस समय भी वे अदालत में साक्षी देने के लिए तैयार हो गये थे ; पर वहाँ तक जाना न पड़ा। जब मेवाड़-सत्ता ने उसी उपन्यास को भस्म कर दिया, मैंने सहर्ष वस्तुस्थिति का मुकाबिला किया।

कंधे पर कहानियों और एक उपन्यास से लदा झोला ; ललाट पर पसीने की बूँदें, धूल में झुलसे चप्पल, देह पर पसीना, और मन में उमंग की बिजली। यों मैं सरस्वती प्रेस पहुँचा। मन में उल्लास तो था, पर दहलीज पर पैर रखते ही संकोच, भय, सकपकाहट और सहमता आ गयी। जैसे एक राजा पहली दफ़ा वायसरिगल-लॉज में पैर रखे, पहली दफा कुलवधू ससुराल की दहलीज में घुसे, जैसे पहली दफा जुगनू को चाँद का स्पर्श हो, लहर जैसे प्रथम बार अपने असीम वारिवक्ष को निहारे, यों मैं पौर में घुसा। एक कंपोजीटर बगल रगड़-रगड़कर नहा रहा था। मैंने पूछा—प्रेमचंदजी कहाँ विराजते हैं ? उसने योंही सहज इशारा किया—बगल के कमरे में। मैंने मुड़कर उस कमरे में झाँका। दो-तीन व्यक्तियों से घिरी, मेज़ पर झुकी-सी, कागज-पत्रों के ढेर से आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी। रेशमी तमखुई बिखरे बाल ; पतली तनी भवों पर संकुचित, पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुदा और सरल-गहरी देखनेवाली आँखें। प्रेमचंद, वही ! वही मछली के अगले पंजों-जैसी ब्रुशनुमा मूँछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यंत सूक्ष्म रौगन ! यही प्रेमचंद हैं—अंतःकरण ने सौ जबान से कहा। वहीं दरवाजे में ही खड़े-खड़े मैंने प्रणाम किया।

एक बार साधारणतया मेरी ओर देख सिर हिलाकर मुझे अन्दर बुलाया और पुनः कार्य में मशगूल हो गये। मैंने पास ही अत्यंत संकोच

के साथ सिकुड़कर बैठते हुए कहा—मैं उदयपुर से आ रहा हूँ।

किसी पत्र को देखते हुए सिर हिलाकर आपने कहा—हुँ हुँ! जनार्दन न? फिफ्थ इयर में आये हो न?

मैंने मन ही मन झेंपकर जवाब दिया—जी नहीं; थर्ड इयर में आया हूँ। बीच में दो वर्ष पढ़ना छोड़ दिया था।

'अच्छा!' पत्र रखकर आपने मेरी ओर देखा।

मैंने अपना झोला खोला और उनके पत्र निकाले। बोला—लखनऊवाली घटना के बाद, मैं समझता हूँ, अपना प्रमाण मुझे देना चाहिये। ये रहे आपके पत्र।

पहली दफा मैंने वह बाल-सुलभ सुंदर आत्मा की मुक्त लहरी के समान मुखुर-मुखुर हास्य सुना और स्तब्ध रह गया।

आप बोले—तो ये पत्र भी तो उड़ाये जा सकते हैं? हा, हा, हा! मैं जान गया तुम्हीं जनार्दन हो। अच्छा हुआ, यहाँ आ गये। ठीक हुआ।

मैंने कहानियाँ निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचन्द के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़ वे कृतियाँ हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियाँ हाथ में लेकर उसे जाँच-पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे। उपन्यास के रजिस्टर को उलट-पुलट आपने कहा—छपने में शायद आठ सौ पेज तक जाये! खूब है भई! अच्छा, इन सबको मैं देखूँगा। यहीं हो, अब तो?

उस दिन तो परिचयात्मक बातें ही हुईं, पर मैं होस्टल जैसे बदलकर लौटा। मेरे ये भाव उस समय स्पष्ट न थे; मेरा परिवर्तन-श्रीगणेश भी मुझे उतना प्रतीत न था। पर मैंने एक नये मार्ग पर पैर रक्खा था। पहली मुलाकात में प्रेमचंद ने मुझमें अदृश्य पर अनुभव-महिम स्वप्न जगा दिये। और रात? रात आह्लाद में रमी हुई थी। १९३० के बाद

ऐसी पवित्र स्वतः मगन नींद उस दिन आयी थी। यह महापुरुष इन ऐसे कतिपयों से कितना अलग पड़ता है, मैंने सोचा।

फिर तो प्रति मुलाकात, दिन-ब-दिन मुझे उनके निकट, निकट से निकट लाती गयी। मानो प्रेमचंद एक प्राचीन मंदिर थे, जिसके सभी पट खुले हुए थे; प्रकाश का एक झूमर जो चारों ओर से आलोकित होता है। दस-बारह दिन बाद मैं बेनियाबाग में उनके निवास पर पहुँचा। मकान देखकर मन में संतोष हुआ; चलो, घर का घर तो अच्छा है। प्रेस है, यह घर है—हमारा यह युगस्रष्टा कलाकार अच्छी हालत में तो है। और, जब भूकम्प ने इस मनचाही को तोड़ना चाहा तब मुझे सबसे पहले प्रेमचंदजी के घर की चिंता हुई थी—कहीं उसमें कोई खराबी न आ गयी हो। पर १९३४ में एक दिन बेनियाबागवाले उसी मकान में एक पंजाबी ने हुक्का गुड़गुड़ाकर मुझे टका-सा जवाब दिया—'प्रेमचंद-वेमचंद यहाँ नहीं है!' तब कहीं मुझे मालूम हुआ, रंगभूमि और कायाकल्प के लेखक के अपना घर का घर भी नहीं है।

बेनियाबाग में शायद तीसरी बार मैं उनके यहाँ (पहली बार घर पर) पहुँचा। पुस्तकें अलमारियों से भरी, मेज पर अखबार और नोट-बुकें तथा बैठक के कमरे में गद्दी-तकिया—कुहनी मेज। दीवार पर एक कैलेंडर। बस इतना ही। इस सादगी के वातावरण के पीछे जी मसोसने-वाला अभाव न था; क्योंकि उसका प्रदर्शन रंक होता है। प्रेमचंद की वह कुहनी के बल लेटी हुई मूर्ति रंक न थी; उसमें अपरिग्रह की भावना झलक रही थी। एकदम कमरे के वातावरण ने मुझे सुझाया, यह इनकी सुन्दरता है।

मैंने इधर-उधर की बातों के बाद कहानियों की बाबत पूछा—आपने मेरी कहानियाँ पढ़ी होंगी?

'हाँ, अच्छी हैं।' यों कहकर आपने बंडल से एक कहानी—रचका (पीछे 'द्वन्द' नाम से 'हंस' में छपी)—निकाली और पढ़ गये। बोले,—

'इसे अपने नाम से भेज दूँ तो २५ रुपये मिल जायँ ! कहानी की सभी बातें यहाँ हैं।'

मेरा मन फूला, घमंड में नहीं—सच्चे प्रोत्साहन के धूप को पाकर जैसे एक डोड़ा विकच उठे, कुन्द-कली हँस उठे, वैसे जैसे प्रभात-वायु के झोंके से लहरियाँ जाग उठें !

आपने कुछ देर बाद पूछा—क्या चाहते हो ?

मैंने कहा—आपकी जो इच्छा हो, वह कीजिये। मैं तो तुष्ट हो गया। ये मैंने आप ही के लिये लिखी थीं। आपको रुचीं, मैं सफल हुआ।

एक गहरी दृष्टि से उन्होंने मेरा अंतर टटोला। बोले—फिर भी ?

मैंने जवाब दिया—यदि आप मुझे हिंदी-सेवा के योग्य समझते हों, 'हंस' के उपयुक्त इन्हें समझते हों—मुझे प्रोत्साहन के योग्य मानते हों, तो इन्हें प्रकाशित करिये। अन्यथा आपके चरणों में ही इन जैसे-तैसे फूलों को रहने दीजिये। आप ही मेरे परीक्षक हैं।

और, प्रेमचन्दजी ने मेरी परीक्षा लेनी शुरू की। पर ढंग स्नेह का था। एक के बाद एक, यों दो-तीन कहानियाँ प्रकाशित कीं, और मैं जैसे इस फल से उदासीन होता गया। लेखक और सम्पादक का बर्ताव, अपना मुँह लेकर विदा हुआ, और वीरान होते-होते बच गया। आज हिंदी का एक नवयुवक लेखक, जो इस महिमामय प्रगतिशील संसार में रचनाएँ लिए घूमता है, कितना अकेला है ? सम्पादक इसलिए सम्मान करते हैं कि उन्हें मुफ्त अच्छी रचनाएँ चाहिएँ और पाठक अपने अभाव की अनुभूति में भाव की पूजा भर कर लेता है। यश के अबरकी कपड़े पहन यह प्राणी यों घूमा करता है, मानो घर-हीन, परिवार-हीन एक अंधा भिखारी, कुछ गीत लिये, कुछ भाव लिये। लेकिन कलाकार का वह वरद प्रेम, जो काया पलट देता है, व्यक्तित्व की बीमारी शमा देता है, कितने अभागों को मिलता है ? मैं सोचता हूँ, प्रेमचन्दजी का मुझे जाँचना ऐसे ही स्नेह का वर्षण था। मैं जब इस क्षितिज के पास पहुँचा, एक कुहरों

में क्रान्त उभार-भरा बादल था ; इस सुनहली रश्मि ने मुझमें प्राण भर दिया, बिजली भर दी।

यों प्रसंगोपात्त प्रेमचंदजी मुझे एक प्रकार से संस्कृत करते रहे—मेरा मानसिक क्षितिज विकसित करते रहे—मुझे लेखक होने के लिए अधिकाधिक योग्य बनाते गये, और मैं उनको जैसे अधिक पास से देखता गया, वे मुझे अपने साहित्य से ऊपर प्रतीत होते गये। 'ऊपर' से मतलब यह नहीं है कि उनका साहित्य उनके जीवन से प्रसूत न हुआ हो। इसका अर्थ यही है कि वे अपने स्वप्नों से कहीं अधिक सुन्दर थे। एक दिन दोपहर को जैनेन्द्रजी तथा वे बैठे बातें कर रहे थे। मैं भी बैठा था। साहित्य के विभिन्न अंगों पर वार्तालाप हो रहा था। वार्तालाप जैसे समुद्र के किनारे बैठे हुए दो व्यक्ति कर रहे हों—समस्या के बाद समस्या, तरंग पर तरंग। भाषा, राष्ट्र-भाषा, अनुभव, प्रतिभा आदि सभी विषयों पर चर्चा हो रही थी, और अनुभव की समस्या ने तो जैसे प्रेमचंदजी की वाणी में जोम भर दिया ; बोले—बिना अनुभव लिखना तो लग़ो है! हमने मसूरी में ताँगे चलाये! थी न हिमाकत ?

फिर वह चमत्कृत करनेवाला सरल पर मुक्त हास्य! मैं आज सोचता हूँ, प्रेमचंदजी अपनी गलतियों को ऐसा पहचानते और हम अपनी गलतियों को आदर्श का रूप देते फिरते हैं। जैनेंद्रजी ने बहस छेड़ दी ; पर मुझे वह उतना अपना न बना सकी। वह पहला दर्शन था, प्रेमचंदजी के इस माननीय मित्र का। पर प्रेमचंद में जो था, वह जैनेंद्र में न मिला। आज भी नहीं। एक बार उन्होंने कहा—हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र में मैं तो बालक हूँ। मैं हँसे बिना न रह सका। कितना गंभीर-धीर यह बालक है, जिसने 'सूरे' की रचना की है।

ये संस्मरण अत्यंत व्यक्तिगत हो रहे हैं ; पर इसके लिये मुझे चिंता नहीं है। मैं तो प्रेमचंद को जैसा मैंने पाया, वैसा यहाँ कुछ स्मृतियों में आद्याहित कर दे रहा हूँ। जनार्दन झा 'द्विज' जी की 'प्रेमचंद की

उपन्यास-कला' नामक पुस्तक पर मेरे मुँह से निकल गया—आप पर तो सात सौ पृष्ठ का पोथा होना चाहिये।

आप कुछ किलककर बोले—तुम लिखना।

मैंने कहा, उत्साह के साथ कहा—यह एक तीव्र कामना है—

बीच ही में बात काटकर आपने कहा—अभी नहीं, मैं मर जाऊँ, उसके बाद !

और किसे पता था, १९३७ में मुझे ये काली पंक्तियाँ लिखनी पड़ेंगी ? जीवन-चरित्र में क्या लिखूँगा ? कितनी ऐसी बातें हैं, जिनका मेरे पास नोट नहीं है ; पर प्रेमचंद धीरे-धीरे मेरे केंद्र बन गये थे। खूब खुलकर मैं उनके साथ जीता था और आज उनके शरीर के बिना भी मैं इन कुछ स्मृतियों के बल जी रहा हूँ। एक दिन मैंने पूछा—साहित्य-सेवा किस प्रकार की जाय ? आपने सहज भाव से कहा—अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखकर। उसके लिए न सभा की जरूरत है, न समाज की। उसके लिए चरित्र की, हृदय की, तपस्या की जरूरत है। बस !

और मैं दिवसों अपने अतीत पर सोचता रहा। मुझे मालूम हुआ, अपने अंधकार से मैं किस प्रकाश की प्रशस्ति लिखूंगा ? क्या करूँ ? अपना गत चिट्ठा कह दूँ ? यहाँ एक आदर्श की लड़ाई मुझमें छिड़ पड़ी। और वर्ष भर बाद 'हंस' में उन्होंने मुझपर कुछ पंक्तियाँ लिखीं। तारीफ करने की उनकी आदत जरा बहकी हुई थी। पर प्रेमचंदजी का मेरे विषय में विचार वह बता रही थीं। भर चौंक मैंने उस नोट को पढ़ा और धक् रह गया। एक करवत चल गयी ; रात भर मैं सोचता रहा—लिख दू सब ? पर कैसे लिखूँ ? एक बार मैं एक साथी खो चुका हूँ। यह गहरी हानि इस बुत के स्नेह के मरहम से शान्त हो रही है। पर क्या इस कृपा-सदन को धोखा दूँ ? और यहाँ मेरी अंतरात्मा क्रान्ति की अँगड़ाई में उठ बैठी। मैंने लिख दिया, मैं ऐसा रहा हूँ—वैसा रहा हूँ। यही कुछ बातें थीं जिन्हें खोल मैंने कष्ट उठाये थे, पर इस समय तो

मैंने सब कुछ को दाव पर रख दिया था । मैंने वजीर खो दिया है, बादशाह अब खो दूँ । पर एक प्रकाशमय सवेरे प्रेमचंद ने शीतल क्षमा की, प्रेम की ज्योति की वर्षा की। जीवन के सभी घाव भर गये और मैं सबल हो गया—ताजा । उन्होंने लिखा—जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा। अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है । इसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो गरीबी ही में फल सकती हैं। फिर उन्होंने हिंदी की तू-तू मैं-मैं स्थिति पर दुःख प्रगट किया और मुझे आदेश दिया था कि मैं उससे दूर रहूँ । मैंने सोचा—जीवन के सौन्दर्य को कलाकार किस आँख से देखता है ? एक तो महाशय 'क' थे, जिन्होंने पाप को लेकर सदाशय को ठुकरा दिया और एक यह हैं, जिन्होंने सदाशय को चूमकर पाप को ठोकर मार दी। क्या प्रेमचंद ने मुझे मनुष्य न बना दिया ?

एक बार आपने कहा--मैं तुम्हें यों ही मुँह नहीं लगा रहा हूँ। तुममें मैंने प्रतिभा पायी है । अब मेरा धर्म है, उसे रास्ते पर लगा दूँ। सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना—प्रेम चाहिए—उसका कुछ मैं तुममें देख सका हूँ। उस समय तो मैं ठंढी आँधी में रह-रहकर काँप उठा था, यह सुनकर। पर, मैं समझ गया था, मुझे कहाँ तक अपना परिचय इनको देना है ।

'कीचड़ का कमल' आपने पढ़ा ? समय निकालकर पढ़ा और एक दिन बोले--ढाई सौ पत्ते तो हम एक ही दफा में पढ़ गये। मैं समझता हूँ, हिंदी की टोन बढ़ रही है। पर भुवनेश्वरी के चरित्र से मैं सहमत नहीं होता। तुमने उसे खींचा तो ठीक है ; पर पुलिस की रिपोर्ट तो कुछ नहीं है।

और, उन्होंने एक विवाद का जन्म दे दिया। मैं उनको सुन रहा था, और सोच रहा था, यह व्यक्ति क्या मुझे इतना ज्योतित मानता है कि मैं यों रचना के आदर्श द्वारा समझाया जाऊँ। वे हुक्मिया यह कह

सकते थे, कि तुम उसका चित्रण बदल दो वरना उपन्यास छप न सकेगा ; अथवा उसके बिना कृति कुछ भी न रहेगी। प्रेमचंद मुझपर दबाव डालकर जो चाहते करवा सकते थे ; पर उन्होंने यथार्थ और आदर्श की एक सहमत कर आलोचना ही छेड़ दी । कहाँ तो हमारे संपादक आठ-आठ महीनों तक नये लेखकों की कृतियाँ पढ़ते तक नहीं, और कहाँ प्रेमचंदजी ने पौने चार सौ घने लिखे गये फुलस्कैपों को पढ़ा और प्रत्येक चरित्र पर राय दी, उज्र पेश किये। मुझे समझाया-बुझाया, सहमत किया। उस समय मैं उनसे इतना प्रभावित था कि उनके कहने पर उपन्यास को फाड़कर फेंक सकता था। पर बड़ी खूबी से उन्होंने मुझे समझाया--नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोनों ही अतियाँ हैं। नग्न यथार्थ पुलिस की रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेटफार्म का फतवा।

मैंने डरते-डरते भी उज्र-सा किया—पर लेखक यथार्थ के चित्रण में जीवन ही तो खींचता है। पुलिस की रिपोर्ट और लेखक का वह चित्रण तो दो वस्तुएँ हैं--

'पर यथार्थ के नाम में विकारों का चित्रण तो न होना चाहिए। जीवन का अंधकार तो है ; उसे हम क्यों अंधकार ही चित्रित करें ? कलुष तो है, उसे हम सौंदर्य में क्यों न बदल दें ? जीवन में होता भी यही है। दुनिया तो दुःखमय है ; पर क्या दुःखमय जीवन में सुख की रचना हम नहीं करते।' उस समय तो मैं सहमत होने के लिए हो गया। नन्ही मछली मगर के सामने ठहर कैसे सकती ? और मुझे हाँ-नाँ कहने का अधिकार ही क्या था ? किताबों में पढ़े गये यूरोपीय फतवे मेरे दिमाग में चक्कर काट रहे थे ; मैं भी उस बीमारी से पीड़ित था, जिससे आज हमारे ढेरों लेखक पीड़ित हैं। यथार्थ की आँखें रंगीनी ही तो देखती हैं ; वह मन-विनोद खोजता है ; बताशे चाहता है ; वह भोग चाहता है ; जो निर्माण नहीं करता, क्षय करता है ; नाश करता है।

जीवन के सतत भोग में हमें जीवित कौन रखता है, मैं सोचता हूँ। और आज एक प्रतिध्वनि उठती है—आदर्श की साधना। प्रेमचंद—प्रचार-वाद के लिए बदनाम प्रेमचंद ने—मुझे खूबसूरती से यह दृष्टि प्रदान की और आये दिन मुझे एक प्रकाश मिला, मुझे जैसा दिखा, यथार्थ और आदर्श बुद्धि के झगड़े हैं। जीवन में ऐसी सीमाएँ—रेखाएँ नहीं। यह तो विविधता की एकात्मक साधना भर है। यहीं, यहीं समवेदना की पाँच ज्वालाएँ मन की पकड़ में बँधतीं और जीवन की चेतना का प्रारंभ होता है। यहीं बुधता की लौ जलती है, यहीं सौंदर्य का जन्म होता है। यह बहुता का सर्वांगीन एकता में बदल जाना ही जीवन की धारा है। साहित्यिक रचना इस सत्य के विपरीत कैसे हो सकती है? इसलिए, मैं आज आदर्श की साधना ही को जीवन मानता हूँ। प्रेमचंद यही दूसरी तरह देख सके थे। उनकी शैली में इस ध्रुव सौन्दर्य को चालाकी के साथ, घुमा-फिराकर व्यक्त करने का मायाजाल परिष्कृत न हुआ था। इसलिए, उनमें 'कला—कला के लिए' की भ्रांति न मिली। पर क्या हमारी वे धारणाएँ आज बदल नहीं रहीं?

मोदी के कहने पर मैंने उसी उपन्यास को दुबारा लिखा और प्रेमचंदजी को अर्पा। समर्पण में मैंने लिखा था—आप मेरे प्रेरणा-गुरु हैं। आपने पूछा—यह प्रेरणा-गुरु फिर क्या बात है? एक सुनहली हँसी निकलूँ-निकलूँ, हँसू-हँसू!

मैंने कहा—आपकी 'रंगभूमि' ने मुझे जो प्रेरणा दी है, वही आज तक मेरे साथ है। अतः, आप मेरे प्रेरणा-गुरु हुए।

उत्तर में—वह चारित्रिक हास्य!

फिर तो मैं कोई कहानी लिखता, पहले कह आता। और हम दोनों प्रेस से घर तक बातें करते हुए चलते। ताँगा, मोटर, गाड़ी आप से आप बचाते हुए हम चले जाते। वे संध्याएँ कितनी सुन्दर थीं—आज मालूम हो रहा है। प्रेमचंदजी बातें करते हुए ठहर जाते और नारंगी,

केले, दातून खरीदते। मैं देखता—अपने चरित्र ये कैसे ग्रहण करते हैं। क्या कुछ बातें करते हैं, किसी खोनचेवाले के साथ; चाट खाते हैं क्या? मैंने उन्हें बाजार में तंबोली के यहाँ पान का बीड़ा खरीदते न पाया। तब वह कौन-सी मूक, छिपी-छिपी शक्ति है, जो गरीबों की विपन्न मूर्तियाँ आविर्भूत कर देती है? क्या वह उनके ही पूर्व जन्मों का अज्ञात प्रकाशन है? नहीं तो इतनी अनुभूति, इतनी सजीवता कैसे आवे! मैं जानता हूँ, लेखक अपने चरित्रों में जीता है; पर इन सभी चरित्रों के पीछे कोई न कोई व्यक्ति रहता है। यही बात प्रेमचंदजी ने मुझसे पूछी थी। उपन्यास के एक-एक पात्र को लेकर मुझसे पूछा था--यह तुम्हें कहाँ से मिला? और, मैं अपने ध्यान की व्यक्तियाँ बताता गया था। अब मैं देखना चाहता था, कालूखाँ इन्हें कहाँ से कैसे मिला। पर, मैं आज दिन तक यह समझ न पाया, प्रेमचंद अपने पात्र कैसे पकड़ते थे। तब क्या पतंग जलकर ही दीपक के सभी सपनों का मर्म जान जाता है? एक बार दिल्ली में उन्होंने मुझसे पूछा—कुतुब देख आये? मैंने उत्तर दिया—जी नहीं—किले में उसकी एक बड़ी तसवीर देख ली है। ठहाका मारकर आपने कहा था—हाँ जी, हमलोगों के पास कल्पना भी तो है; उससे चाहे वह देख लें! दुनिया में न हो, वह भी देख लें।

समझा, तब यह वह कल्पना थी, जो आँखें देखकर दिल का दरिया नाप लेती थी, रोयें छूकर जीवन की ज्वाला देख लेती थी, आँसू और हास्य को निहारकर सुख-दुःख का इतिहास जान लेती थी। पर कितने महिमामय वे मन के नैना थे? हमारे शिव का वह तीसरा नयन आज बन्द हो गया, क्या?

बनारस की उन सड़कों पर हम साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, इतिहास, विज्ञान सभी विषयों पर बातें करते चले जाते। 'हम' का प्रयोग तो संख्यावाचक है। अतः, मैं तो श्रोता ही था। उनका अध्ययन मेरी पाठशाला था। और, उन्होंने मेरी चुप्पी का अर्थ भी समझ लिया।

एक दिन शाम, हम 'आज' कार्यालय के पास होकर गुजरे और प्रेमचंदजी ने कहा—मैं तो हिंदी में यों ही आ गया हूँ। मुझे साहित्य-सेवा का अधिकार ही नहीं। मैं तो अब चला ; जिंदगी खतम हुई। पर तुम्हारे सामने अभी जीवन का जीवन पड़ा है। तुम सच्चे साहित्य-सेवी बनो। और वे रुके ; मेरे भाव, मेरी रुचि, मेरी एकाग्रता जैसे तौली। मैंने उदासीन—उदासीन सन्ध्या को बेनियाबाग की घटाओं पर जैसे मूक पाया। वे बोले—अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फ़िलॉसफ़ी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आँखों से जीवन देखो ; अपने अनुभव से उसे जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।

यह गुरु-मंत्र न था ; उनके अपने अभाव (!) का एक सहृदय उद्गार था। पर मेरे लिये यह मंत्र ही था ; एक मशाल, जिसे हाथ में लेकर मैं अपने स्वप्न-मार्ग प्रकाशित कर सकूँ। नये होनहारों के लिये प्रेमचंद का यह कथन क्या मार्ग-दर्शक नहीं है ! मैंने कमरे में पहुँचकर उसे नोट कर लिया। तब से, अधकचरा ही सही, इस दिशि में मैंने प्रयत्न अवश्य किया है। और मुझे मालूम हुआ है, वाकई इस विशिष्टता के बिना कोई सचा कलाकार नहीं कहला सकता। जीवन की पूजा, जो सौंदर्य के असीम आनंद की आराधना है, आत्मा की गूढ़ आँखों के नयन-जल के बिना नहीं होती। वह व्यक्ति होना चाहिये।

प्रेमचंद का यह पूर्णिमा-दर्शन मुझे दिल्ली-सम्मेलन बाद बंबई से पत्र-द्वारा हुआ था। पर दिल्ली में हिंदी-संसार का यह किसान एक अजब बल का धनी मिला। 'जागरण' बंद क्यों नहीं कर देते ? प्रश्न। उत्तर—'मोह बंद करने नहीं देता।' मैंने उनकी पुतलियों में एक अथाह निराशा देखी। बोले—'और फिर काम न करूँ, तो बैठा-बैठा क्या करूँ ! जीवन में काम तो करना पड़ता है।' उस मनन-लीन भाव-भंगिमा की तह में मुझे वह वीतराग मिला, जहाँ से झनकार करते हुए कर्म की एक नृत्य-गति प्रारंभ होती है। जीवन का प्रेम, जो जीवन का

सर्व-सांत पाकर अधिक जलता है--अधिक रंग पकड़ता है, मिला। वह मूक-भूमि में सोते हुए योद्धा की मानो मूर्छा हो। प्रेमचंद क्या चाहते थे ? प्रसंग छोड़कर मैं पूछता हूँ। लोग कहते हैं, वे धन चाहते थे; यश चाहते थे; प्रमोद-क्षेत्र चाहते थे। श्रीनाथसिंह के और अन्य ऐसे आंदोलनों की चिल्ल-पों बहुत-से अपराध बना चुकी हैं; पर ये उनमें हों भी तो ये जीवन के अपराध हैं। पर प्रेमचंद न यश चाहते थे, न धन, न प्रमोद-क्षेत्र ही। वह एक ज्वाला थी जो अपने लिये तेल चाहती थी, शिखा चाहती थी। सम्मेलन में जाने के पहले मैंने पूछा—आप सभापति बनने पर राजी होंगे ? मुक्त हास्य के साथ आपने कहा—बना दें भी तो ! फिर मजाक छोड़कर बोले—हिंदी में आज हमें न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है—दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिये किसी की भी कामना करे बिना लिखता रहे। तुम्हें लिखना हो तो यह बात नोट कर लो। हिंदी को तपस्वी चाहिये—यह था उनका मतलब। प्रेमचंद का तपस्वीपन एक युद्ध—शुद्ध मनुष्यत्व था। दिल्ली-सम्मेलन के संस्मरण मैं कभी भी नहीं भूल सकता। वे छः दिन अजर दिवस हैं, और उनका ध्यान एक अपूर्व कंपन। हरिऔधजी, प्रेमचंदजी आदि के साथ रहने का वह प्रथम अवसर था, और हमारी छाती गज-गज उछल रही थी।

प्रदर्शिनी का उद्घाटन हो चुका था और प्रेमचंदजी एक झुण्ड में खड़े थे। बोले—कोई नाई तो खोज लाओ।

शायद किशोरीलाल वाजपेयी थे, बोले—अब तक आपकी हजामत नहीं हुई ? इशारा श्रीनाथसिंहजी के आंदोलन की ओर था। मैं जल गया; मन में आया,...पर ऐसे प्रसंग विष पीने के प्रसंग हैं, और ये ही घूँटें कालांतर में हृदय का बल बनती हैं—जीवन। प्रेमचंद तो माधवप्रसाद खन्ना के पास जा बैठे; पर दिवस भर मुझपर चिंतित वातावरण छाया रहा; एक विषाद, जो दुःख की तीव्रता से पैदा होता

है। यह था सूरे, सोफिया, अमरनाथ, होरी और धनिया के लेखक के प्रति हमारा सम्मान-भाव—बर्ताव। जिसके वरद हाथों ने भूतनाथ और चंद्रकांता-संतति का मार्ग एक राजमार्ग में बदल दिया, उस प्रणवीर के प्रति हमारा यह विवेक क्या हमारी योग्यता नहीं बताता ?

पर प्रेमचंद ? प्रेमचंद को मैंने एक नई सजधज में देखा। अब तक मैं उन्हें प्रेस में—घर में पिता, आचार्य, संपादक, मित्र की भाँति ही देखता आया था—अब उन्हें गतिमान समाज के एक व्यापक दायरे में स्थित देखा। मुझे वे मनुष्य, एक अधिक मजबूत और धुन के अच्छे महामना व्यक्ति मिले। पंडाल के द्वार पर एक स्वयंसेवक ने उनको भूल से रोक दिया, आप दर्शकों में जा बैठे। मीटिंग खतम होने पर जब लोग 'ये प्रेमचंद ! ये प्रेमचंद !' कहकर आपस में अँगुलियाँ बताते, जैसे आप जनहीन मार्ग पर चले जा रहे हों। और जब उस अखिल भारतीय साहित्य के मंच पर उनको लेकर एक खासा वैयक्तिक विवाद चल पड़ा, यह व्यक्ति सुदूर कनकौओं की लड़ाई देखने में मगन था। एक उदासीनता, जो जीवन की सजीवता का उद्गम है, मैंने उनकी उस वृद्ध देह में प्रकाशित देखी। शेर की तरह झपटकर उन्होंने मेरे हाथ से अपनी धोती ले ली, जब मैं अपनी भावना में विभोर उसे धोने लगा था। 'यह न चलेगा ! भविष्य में कभी यह न करना ; नहीं !' पर मैं क्या करता ? सेवा ही मेरे प्राण की अभिव्यक्ति है—उसके प्रति, जिसे मैं श्रद्धा, प्रेम, स्नेह से अपना स्वीकार करता हूँ। प्रेमचंद के प्रति मैं अपनी भक्ति, अपनी श्रद्धा कैसे प्रगट करता ? मैंने जवाब दिया—मेरी भी तो कुछ चलने दीजिये ! और वे चुप। ओह ! वह घटना कितनी रोमांचकारी है ! मेरी इस करतूत ने उनपर जो प्रभाव डाला और उससे 'हंस' में उन्होंने मेरा जो 'जिक्र' किया, वह मैं ऊपर लिख चुका हूँ।

पर इस आंतरिक आनंदमय स्पर्श की अनुभूति पर व्यंग जैसे सघन बदली था। मैंने प्रेमचंदजी की भवों में एक वेदना सोई पायी। वह

जैसे समस्त जीवन का उपहास कर रही हो, ऐसा मुझे लगा। वे उस व्यंग को पचाने की कोशिश कर रहे थे। मुझे लगा, वे इतनी परवाह क्यों करते हैं ? और मन में आया, यह उनसे कह दूँ। लेकिन, वाह रे मैं ! कितना गलत मेरा वह अंदाज था ? रात को उस निर्जन सड़क पर प्रेमचंद का वह तरंग-विनिंदित मुक्तहास आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है, ऐसा गुंजार रहा है वह कि ट्रेन की यह कर्ण-कटु आवाज भी उससे मात हो रही है। जैसे अंतरिक्ष में वह सुंदर हँसी एक अमर थाती के समान विहँसोही-प्रकृति ने संग्रह कर रक्खी है ! हमलोग—मोदी, मैं और वे—एक बजे रात में कवि-सम्मेलन के हुड़दंग की ठेल-मठेल देख लौट रहे थे, आवास पर। एक-एक तुक्काड़ के नाज-नखरे ले-लेकर यह दुःखी, दुःखी प्रेमचंद हँस रहा था। हँस रहा था, जैसे सारा जीवन एक मस्त हास्य हो, आनंद की एक तरंग। विजन-विजन चाँद दूधिया आकाश में और एक कातर स्वप्न-स्मृति की भाँति किले की काली-काली दीवारें। हम हँसते जा रहे थे। पर यह तो देखो, प्रेमचंद मारे हँसी के टेढ़े हो रहे हैं, लक्कड़ ! हँस तो हम भी रहे थे ; पर हमारे मन मानो सीकचों में बंद मुँह झलका रहे हों—और इस साहित्य के 'होरी' को तो देखो, जैसे प्रतिपल एक नयी हँसी हो ! चाँदनी रात का वह हास्य आज मुझे पूछ रहा है, तब क्या प्रेमचंद प्रेम और आनंद की आँसुओं भरी हँसी थे ?

बिछौने में उठ बैठते ही मिलनेवालों का ताँता लगा रहता था और यह दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक खतम न होता। हमें सज्जनों से कहना पड़ता, मुंशीजी को हाथ-मुँह तो धोने दीजिये। यह काम मोदी ने अपना कर्तव्य बना रखा था। न मालूम वह क्या सोच था, वह कौन-सी विरक्ति थी, जो उन्हें कपड़ों से, खाने से, पीने से अलग-सा रखती थी ? तेल डालियेगा न ? 'तुम्हारी इच्छा !' कुर्ता बदल लीजिये। 'अच्छा !'—ये ठंढे उत्तर थे।

दिल्ली के संस्मरण अधिकतर कष्टप्रद ही हैं। पर, इन्हीं संस्मरणों के बल तो प्रेमचंद मुझे अधिक गहरे दिखे। फिर तो वे साल भर तक बंबई रहे। सिनेमा-संसार में घूमते हुए भी आपने केवल एक ही फिल्म देखा था; और यह भी धनीरामजी कह सुनकर लिवा ले गये थे। संयम की यह सीमा नहीं तो क्या है? यहाँ तो नया फिल्म आया कि उड़े! चाहे फिर पैसे उधार लेने पड़ें। आपकी तबीयत बंबई में कैसी रही? ये बोले—अच्छी रही; संयम से रहते हैं, तो अच्छी क्यों न रहेगी? मैं चुप रह गया। मन में सोचा, यहाँ तो असंभव ही का बोल-बाला है। प्रत्येक कमजोरी को या तो हम आज फैशन के नाम में, माननीयता के लग़ो ख्याल के नाम पर हक़ूक माने बैठे हैं! आवश्यकता इस सदी और सभ्यता का रहनुमा शब्द है। प्रेमचंद मेरे लिये यहाँ भी एक सबल चुनौती थे, उपयुक्त इशारा, उपदेश।

बंबई में वे कैसे रहते थे? धन उन्हें मिल रहा था; पर उनके पत्र बता रहे थे, वे वहाँ अधिक दुःखी रहते थे। उन्होंने एक पत्र में लिखा था—धन कमाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। कब 'मे' खतम हो और कब बनारस उड़ूँ? यहाँ फिर मजे में गप-शप होगी। सिनेमा के अंदर की असलियत ने उन्हें निराश ही किया। आदर्श-चेता व्यक्ति के लिये धोखे और पतन का दूसरा स्थान शायद ही और कोई हो, यह उनकी टिप्पणी की ध्वनि थी। मैं तो वहाँ आदर्श के प्रचार के लिये गया था, पर डाइरेक्टर के राज में कुछ नहीं हो सकता। आदर्श के प्रचार की भूख उन्हें थी। पर उसके पीछे मानव-जाति के कल्याण की कितनी लगन उफन रही थी, यह मैं जानता हूँ। उनकी इस भूख ने ही उन्हें इतना साधना-प्रिय बना दिया था।

अब बीमारी। गये अगस्त में घर से लौटा, तो मालूम हुआ वे बीमार हैं। मन में अज्ञात शंका पैदा हो गयी। तब से बराबर वह ज्वाला जलती ही गयी। पर बीमारी में वे खूब खुले। इसके पहले भी मैं ईश्वर

और आत्मा पर उनके विचार जानता था; पर शनैः शनैः मृत्यु के मुख में जाते हुए भी वे जीवन के प्रति वैसे ही रहे। 'यह तो होता ही रहता है।' 'आज' के प्रतिनिधि से आपने कहा था—हाँ, जन्म-मरण का चक्र तो चलता ही रहता है; पर सौन्दर्य के पुजारियों का अंत कितना दुःखद है, ईश्वर! और उसमें भी जीवन की सुन्दरता के उपासकों का। प्रेमचंद किसी उदासीन शक्ति को मानते थे। बीमारी भर वे मुझे समझाते रहे कि जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। सन्तोष के लिए, अभाव के शमन के लिए, आशा की उत्तेजना के लिए उसकी कल्पना कर लो; पर यह है अपने ही अहम् का विस्तरण। वे मनुष्य के एक सर्वस्पर्शी सौंदर्य के प्रकाश में विश्वास करते थे, जो मंगल और कल्याण के रूप में व्यक्त होता है; जिसका मार्ग त्याग है, तपस्या है। वे चाहते थे, हमारी सभ्यता का रूप इसी उद्देश्य की अनंत साधना का हो और सदाशय उनका अशस्त्र था। जीवन को वे ऐसा प्यार करते थे, मानो चींटी गुड़ की डली को। डा० अत्रेय को आपने कहा था—जीवन योगवाशिष्ठ्य लिखना नहीं है। बुद्धि का आलोक विलास के अन्तिम रूप में यदि हमें मिले, तो उसका मूल्य ही कितना है? पर जीवन का उनका प्रेम उनके अंतिम दिवसों को सतत युद्ध का रूप दे गया। मैं जानता हूँ, किस ललक से वे अच्छा होना चाहते थे। महीनों हो गये, कलम नहीं पकड़ा। जीवन भर जिसने लिखा हो, मजदूरी ही जिसके जीवन का आदर्श हो, वह यों खटिया कैसे तोड़ता रहे? जब तक कमजोरी घर न कर गयी, प्रेमचंद नीरव रात को लिखते रहे। जलन और रोग का भार उनके लिखने में बाधक न हो सका। लेकिन, दिन आया, वह पड़े रहने के सिवा कुछ न कर सकते थे। ओह! घुटना हिलाते-हिलाते वे कभी-कभी आकाश में देखा करते थे, क्या वे किसी चिंता में यों देखा करते थे, मैं सोचता हूँ। पर नहीं, वे आँखें चिंता से नहीं, गंभीर ध्यानस्थता से ही टक रहती थी। तब क्या, वे जीवन की अंतिम एकरूपता का अनुभव कर रहे थे? वे कभी-कभी फूलों को

निरखा करते थे। क्या वे उनका मूक सुख-दुःख पूछते थे? यह कवि क्या देखता था उन फूलों में? और काम करते हुए मजदूरों को जब वे देखते थे, तब क्या वे किसी युग की ज्योति निहारते थे? ये प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मैं स्वयं ही दे सकता हूँ। बीमार शरीर, पर सच्चे प्रेमचंद का कार्य तो जारी था।

एक दिन घबराकर मैंने पूछा—यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा?

सहज उत्तर मिला—क्या होगा, मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरूँगा भी।

पर इस संदेह के हृदय में मुझे जीवन का गहरा-घना मोह ही मिला—वह अनुराग जो विंदु से सागर, सागर से महासागर होता रहता है; जो स्वरूप से विरूप होने की चेष्टा में असीम है, अनंत है। प्रेमचंद की दार्शनिक भूमि घोर जड़वाद के निकट ही एक मानवीय प्रयत्नवाद थी। वे मनुष्य की सभ्यता में उसके आंतरिक मंगल का उत्तरोत्तर विकास चाहते थे। उनका अध्यात्म जीवन का खुलकर जीना था। अपने समय की मूल प्रवृत्तियों का उनमें एक क्रियात्मक केंद्र था, जहाँ से उनके स्वप्न जो स्वस्थ, सप्रेम-मानव-समाज का दिवस देखने को लालायित रहते थे, फूटते रहते थे। और आज का मनुष्य उन्हें मोहे बिना कैसे रहता? प्राचीनता के रूढ़, जर्जर और प्राणहीन स्वरूप का यह कट्टर विरोधी नवीनता के भयों को भी भली भाँति जानता था। खासकर भारतीय दार्शनिक संपत्ति पर उनका रोष प्रबल था। अतः, संघर्ष की तरंगों में क्रांत मनुष्यों में बातूनी दार्शनिक उन्हें जला देता था। ईश्वर और धर्म मनुष्य के अहम् की चरम सीमा है, यह उनका प्रोफेसर मेहता 'गोदान' में एक जगह कहता है। यह प्रेमचंद की असहाय पुकार है।

मजदूरी को वे अपना धर्म मानते थे, इतना कि विलास से उन्हें जघन्य घृणा थी। एक उदाहरण, जो दुःखद हास्य का प्रतीक है, उनकी

आत्मा की इस मजबूत नींव को बता देगा । उनकी चारपाई घेरे हम सब बैठे थे और शिवरानी देवी उन्हें संतरे का रस पिला रही थीं। मैंने कहा—आजकल तो आपके चेहरे पर सुर्खी नजर आती है। डाक्टर ने भी हामी भरी और जो वहाँ थे, सभी ने हाँ में हाँ मिलायी। प्रेमचंद ने बड़ी रमुज के साथ उत्तर दिया—'हाँ जी, आजकल संतरे भी तो खूब खा गया हूँ !' एक कहकहा ! पर इस चुटकी में कितनी गहरी लड़ाई बोल रही है, ताल ठोंक रही है ! मजदूर, गरीब—एक निराश्रित अपाहिज शोषण के सार्वभौम चक्र में पीसित प्रेमचंद की प्रेरणा का सर्वदा झरित उद्गम था। इस दीन हीन अंधकार के प्राणी में वे प्रकाश की संगीत-पूर्ण पीढ़ियाँ मानो पा जाते थे। अतः प्रतिदिन लिखने का उन्होंने धर्म बना लिया था। "मैं मजदूर हूँ, जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है।" उनके ये शब्द जीवन का वह वाक्य है जो जीवन ही से प्रकट हुआ है । इसीलिए, वे जीवन की आग से लिखा करते थे ; इसीलिए वे समाज के सड़े को दूर करने का जिहाद करते रहते थे ; इसीलिए हमें उनका एक योगात्मक जीवनवाद साहित्य में मिलता है । उसने हमारे भूत की थोथी बहकों की परीक्षा की, उनकी चिल्लाहटों से बहरे हमारे जीवन को देखा और वर्त्तमान के संघर्ष की नस-नस पहचानी । वह नवयुग के प्रकाश को क्षितिज के पार देख चुका था, उन आँखों से जो कलाकार की होती हैं । मालती ! वहाँ चलो, जहाँ चाँदनी में सपने सो रहे हैं ! मैं पूछता हूँ, उनके वे स्वप्न क्या थे ? अवश्य वे प्रेम-पागल मानव-जाति की कामना के स्वप्न ही थे।

पर इतना होते हुए भी क्या वे निराश न थे ? घुटने हिलाते-हिलाते उन्होंने एक बार मुझसे कहा था—ये लड़के जैसे यहाँ पैदा हुए हैं, कहीं और हो जाते ! जैसे हवा की आँधी लाखों मच्छड़ों को उड़ा ले जाती, बाट तबाह कर जाती है, हमारा जीवन भी उसी के समान है । और इसके परे शायद वे देखना न चाहते थे। मैं पूछता हूँ, क्या तब सौंदर्य

का, मंगल का उनका स्वप्न इस निष्ठुर नींव पर रेंगता था ? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। मैं तो उनकी वह हँसी जानता हूँ, जहाँ जीवन की अँधेरी-उँजेरी एक विस्मृति में किलकती रहती थी।

इस युग का उनका सम्मान बहुत ऊँचा था। वे इस समय की जड़ताओं को जानते हुए भी मनुष्य-मनुष्य के प्रतिदिन बढ़ते जाते सपर्क के कायल थे। और यहीं उनकी लोक-संग्रह की भावनाओं का निवास-स्थान था। निश्चय ही सभ्यता के खेत में प्रेमचंद एक विशिष्ट व्यक्ति थे, जो हमारी आज की सत्प्रेरणाओं के गत्यात्मक अभिव्यंजन करती है। पर वे विकार को आदर्श मानने को तैयार नहीं थे। आदर्श सत्य का एक स्वप्न है, एक झाँकी है, एक स्वयं-स्फूर्त्त अनुभूति है—वे यह मानते थे।

पर अंतिम दिवसों में वे कैसे तपे थे, गले थे, लड़े थे! 'मैं एक बुढ़िया का हृदय चाहता हूँ, जनार्दन! यों अब जीया नहीं जाता।' बुद्धि की ज्वालाओं में जल-जलकर जीवन का यह पतंग सिवा जलन के और कुछ न पा सका तब ? ओह, निश्चय, वैसा जीवन तो अखंड दीपक का जलना भर है। वे कलाकार थे, हृदय का दरिया न मालूम कितनी पूर्णिमाओं से जल-रहित हुआ था ; पर अंत में सहस्रशीर्षा रूप हो गये! और मैंने उन पुतलियों में अंतिम बार देखा, एक नीरव सुनसान मैंने पाया। कौन रहस्य यह जीवन है, मैं सोचता हूँ। पण्डित वे न थे, विचारक थे, द्रष्टा थे—पर उन्हें क्या मिला ? कौन जानता है यह ?

लेकिन, क्या प्रेमचंद सचमुच ही मर गये हैं ? पाठको, विश्वास है आपको कि यह जीवन की सड़क कूटनेवाला 'होरी' सदा के लिये नष्ट हो गया ? यह कैसे हो सकता है ? हाँ, उनकी रथी निकल गयी ; मणि-कर्णिका घाट के गंदे कोने में उनका पिंड भस्म हो गया। पर प्रेमचंद ! क्या वे भ्रांति थे, स्वप्न थे, एक खयाल थे ? ओह, क्या मैं आत्मा के अमर अस्तित्व में विश्वास कर लूँ ! प्रेमचंद, मरकर तुम मुझे आत्मा

का स्पर्श बता गये। प्रेम की मेरी ये निराश तरंगें निर्जन तट को चूम लौट आती हैं और मैं कभी-कभी अकेला पाता हूँ अपने को। एक दिन मैंने उनसे कहा था, आप ही मेरे विश्वास के समस्त भवन हो गये हो। और 'लीलू अंगारिया' मैं आप ही के लिये लिखूँगा। आज यह विजन, मैं क्या आपके बिना निराश हूँ ?

नहीं, मुझे उनकी मृत्यु से दुःख नहीं है। पर मेरी चिंता और ही है। मैं पूछता हूँ, सौंदर्य की यह लहर क्या कर गयी इस शोषण और मरण की लीला-भूमि में ! हमारे युग की यह आवाज आज क्या सदा के लिये थम गयी ? कदापि नहीं। जब उनके पात्र, उनकी वाणी हमारी जड़ रगों में जीवन भर रही हैं, भरेंगी, तब क्या उनका वह स्वप्न-वेत्ता ही क्षणभंगुर था ? यह तो जीवन का, समय का, समस्त का, दुःखांत व्यंग होगा। तब अमर प्रेमचंद में हमारा विश्वास हमारे उनके अभाव में, वियोग में, प्रेम में, ज्यों का त्यों है।

कितनी बार तब से मैंने उनकी कल्पना की है ! वे कहाँ होंगे ? क्या कहीं जन्म ले लिया होगा वा किसी गन्धर्व योनि में गये होंगे। किस लोक को वह ज्योतिर्मय हंस उड़ गया ?

पर ये प्रश्न ही प्रश्न हैं, जो प्रतिध्वनि के अपने ही तीर से मूक हो जाते हैं। और मुझे उन्हें पूछना ही न चाहिये। लेकिन इतना तो अवश्य है, प्रेमचंद की ऐसी स्मृति के होते हुए जीवन को दुःखद, काला, निराशापूर्ण अभाव कैसे माना जाय !

—जनार्दन राय

रामदास गौड़

प्रो० रामदासजी गौड़-जैसे प्रकांड विद्वान् के असामयिक निधन से हिन्दी-संसार में जो स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति होना कठिन है। गौड़जी की मृत्यु से हिन्दी-संसार का बहुमूल्य हीरा खो गया है। हिन्दी-संसार से ऐसा रत्न उठ गया, जो विद्वान् होने के साथ ही साथ तपस्वी, कर्मनिष्ठ और सच्चा देश-हितैषी था। प्रो० रामदास गौड़ एक चरित्रवान् तथा विद्वान् व्यक्ति थे। उनके समान विद्वान् और चरित्रवान् पुरुषों की संसार में बड़ी कमी है। गौड़जी विज्ञान-सम्बन्धी अपनी विद्वत्ता के लिए यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुके थे। हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण का अधिकांश श्रेय गौड़जी ही को प्राप्त है। वे आजीवन विज्ञान साहित्य की सृष्टि कर हिंदी के एक खास अभाव की पूर्ति में लगे रहे। स्वयं विज्ञान-साहित्य की सृष्टि करने के साथ ही उन्होंने अपने शिष्यों एवं अन्य हिंदी लेखकों को विज्ञान-साहित्य की सृष्टि करने के लिये बहुत प्रोत्साहित किया। वास्तव में हिंदी-लेखकों और पाठकों में विज्ञान-साहित्य के लेखन एवं अध्ययन में अभिरुचि उत्पन्न कराने में आपका बहुत हाथ था। हिंदी की एकमात्र वैज्ञानिक संस्था—विज्ञान-परिषद्, प्रयाग के आप जन्मदाता थे। वैज्ञानिक शिक्षा और उसके प्रचार की आवश्यकता को

महसूस करके आपने प्रयाग की विज्ञान-परिषद् द्वारा 'विज्ञान' का प्रकाशन आरंभ कराया था। इसके प्रथम संपादक भी आप ही थे। पिछले चार वर्षों से आपने फिर उसका संपादन-भार ग्रहण कर लिया था और अपनी मृत्यु-पर्यंत उसे बड़ी खूबी से निबाहा। आपकी देखरेख में परिषद् ने जितना सुलभ एवं लोकोपयोगी वैज्ञानिक साहित्य प्रकाशित किया, उतना हिंदी की कोई भी संस्था आज तक नहीं कर सकी है। प्रो० रामदास गौड़ के प्रयत्न से 'विज्ञान' में अनेक विषयों पर सुबोध, रोचक, सचित्र एवं शिक्षाप्रद सैकड़ों ही लेख प्रकाशित हुए हैं। वास्तव में 'विज्ञान' ही की प्रेरणा के फलस्वरूप आज दिन हम हिंदी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अन्य सामयिक लेखों के साथ वैज्ञानिक लेखों को भी प्रकाशित होते देखते हैं। गौड़जी ने नवीन लेखकों को ढूँढ-ढूँढ-कर हिंदी में वैज्ञानिक लेख लिखने के लिये प्रेरित किया। 'विज्ञान' पत्र को तो उन्होंने आजन्म अपने बच्चे की भाँति प्रेम किया। जब दुबारा गौड़जी ने विज्ञान का संपादन-भार स्वीकार किया था, उस समय 'विज्ञान' की अवस्था मरणासन्न-जैसी हो गयी थी। इस संबंध में उन्होंने स्वयं मुझे अपने २८-८-९० के पत्र में लिखा था—

"१९ बरस हुए, विज्ञान का जातकर्म मैंने ही किया था। तब तो सभी काम अवैतनिक होते थे; क्योंकि मैं नौकरी करता था। आज तो बिना पैसेवाला लेख लिखता ही नहीं; क्योंकि ऐसा करूँ तो बाल-बच्चों को सूखी रोटियाँ भी न मिलें। परंतु 'विज्ञान' को मरणासन्न देखकर रहा न गया। यह अवैतनिक काम लेना ही पड़ा। इसके पास है ही क्या कि यह किसी को देगा। ग्राहक हैं कुल ८०। सरकारी सहायता न मिलती तो यह कभी का खतम हो चुका होता। इसी ममतावश इसे ले लिया कि इसका ढंग बदल दूँगा। शायद चल निकले। इसलिये स्वयं इस गाड़ी को बिना दाना-घास खींच रहा हूँ और अपने शिष्यों एवं मित्रों को भी जोत रहा हूँ। आज यह देखकर बड़ा संतोष होता है कि आप

सरीखे सुबोध विज्ञान पर लिखनेवाले लेखक हो गये हैं, जो साधारण मासिकों को भी रोचक वैज्ञानिक लेखों से अलंकृत करते रहते हैं। १५-१६ बरस पहले यह दुर्लभ बात थी।"

आज कितने महानुभाव ऐसे हैं, जो गौड़जी की सी आर्थिक कठिनाइयों में फँसे रहने पर भी हिंदी-माता की गोद को भरी-पूरी करने के लिये, हिंदी के एक विशेष अभाव की पूर्ति के लिये, इतना दत्त-चित्त होकर काम करते हैं और भूखे रहकर भी काम करने में आगा-पीछा नहीं सोचते।

गौड़जी ने अपने अथक परिश्रम और अदम्य उत्साह तथा अपनी असाधारण विद्वत्ता से मृत-प्राय 'विज्ञान' में फिर से प्राण-संचार किया। 'विज्ञान' में नाना प्रकार के लोकोपयोगी विषयों पर सुबोध लेख प्रकाशित किये। उसे अनेक उपयोगी उद्योग-धंधों की सामयिक एवं उच्च कोटि की शिक्षा का एक साधन बनाया। 'विज्ञान' का एक महत्वपूर्ण विशेषांक 'उद्योग-व्यवसायांक' प्रकाशित किया। इस अंक में गाँव के धंधे, गाँव के रोजगार, दूकानदारी के चुटकुले, छोटे-छोटे रोजगार, गरीबी के इलाज, सुभीते के रोजगार, अर्थकरी शिक्षा, बेकार शिक्षित के काम आदि-आदि अनेकों अत्यंत उपयोगी विषयों की सामग्री प्रकाशित की गयी। 'विज्ञान' का यह अंक हिंदी-जगत् में एक अनूठी चीज थी। यह अंक दो भागों में प्रकाशित हुआ था—क्षेमांक और योगांक। क्षेम पर किसी दूसरे विद्वान् के लेख न मिल सकने के कारण उसके अधिकांश लेख गौड़जी ने स्वयं लिखे। परंतु इतना विराट् आयोजन करने पर भी अब भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस एकमात्र वैज्ञानिक पत्र की ग्राहक-संख्या कुछ सौ तक ही सीमित है। विज्ञान के लिए अवैतनिक काम करने पर भी आप हिंदी के किसी भी अच्छे से अच्छे वेतनभोगी सम्पादक से कहीं बढ़-चढ़कर उसकी देखरेख रखते थे। विज्ञान के लिए खोजकर नवीन लेखकों को ढूँढ़ निकालना आप ही का काम था। जब

शुरू-शुरू में आपने 'विज्ञान' का संचालन आरम्भ किया था, वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखनेवाले ढूँढ़े भी न मिलते थे। यह बात आपके उपर्युक्त पत्र से स्पष्ट ही है।

'विज्ञान' के दुबारा सम्पादक होने तक गौड़जी से मेरा कोई व्यक्तिगत परिचय न था। वैज्ञानिक विषयों पर मैं अपने विद्यार्थी-जीवन ही से शौकिया लेख लिखा करता था। इस तरह लेख लिखते हुए मुझे दो-तीन वर्ष हो चुके थे। माधुरी, वीणा, गंगा, विशाल भारत और हंस आदि पत्रिकाओं में मेरे वैज्ञानिक लेख प्रकाशित हुआ करते थे। उस समय तक 'विज्ञान' में कोई लेख न लिखा था, 'विज्ञान' में मेरे दो-एक लेख उद्धृत अवश्य हुए थे। गौड़जी को मेरा पता मालूम भी न था। पता मालूम होने पर गौड़जी ने २८-७-९० को मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा था--

श्री सीतारामाभ्यां नमः

बड़ी पियरी, बनारस शहर
२८—७—९०

प्रिय श्रीकपूरजी, वन्दे।

आपके वैज्ञानिक लेख मैं बड़े चाव से सामयिक पत्रों में पढ़ा करता हूँ। वे इतने अच्छे लगे कि मैंने एकाध विज्ञान में उद्धृत भी किये। हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य-प्रचार का उद्देश्य रखनेवाला एकमात्र एवं सबसे पुराना पत्र 'विज्ञान' है। आपने अपनी छात्रावस्था में तो इसे अवश्य ही देखा होगा और अब भी देखते होंगे, परन्तु इसपर कृपा न की। आपका पता मुझे अब मालूम हुआ है। क्या हिंदी-सेवा के नाते आपसे आशा करूँ कि आप औद्योगिक विषयों पर अपने सुंदर लेख देकर हमें अनुगृहीत करेंगे? पारिश्रमिक के नाम कोरे धन्यवाद को छोड़ और कुछ हमारे पास नहीं है। हम सभी अवैतनिक काम करते हैं, पुरस्कार तो दूर की बात है। मैंने लेख की आशा पर ही अपरिचित होते

हुए भी आपको कष्ट देने का साहस किया है। मुझे निराश न कीजियेगा। 'विज्ञान' को मैं सर्वोपयोगी और सुबोध बनाने के उद्योग में हूँ। आशा है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में काम करनेवाले एक भाई की तरह आप भी सहायता करेंगे !

सप्रेम

रामदास गौड़

वास्तव में हिंदी के किसी भी वयोवृद्ध साहित्यिक से मुझे वैज्ञानिक लेख लिखने के लिए उस समय तक इतना प्रोत्साहन न प्राप्त हुआ था और अब भी इतने दिन से लेख लिखते रहने पर भी बिना माँगे, अपनी ही ओर से इतना अच्छा सार्टिफिकेट नहीं मिला है। परंतु गौड़जी की यह अनुकम्पा केवल मुझ ही तक सीमित न थी। वैज्ञानिक विषयों पर लिखनेवाले प्रायः सभी लेखकों को वह बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे। विज्ञान के विद्यार्थियों से भी वे बराबर वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी में लेख लिखने का अनुरोध करते थे। इस प्रकार प्रोत्साहित करने के फलस्वरूप ही 'विज्ञान' को बहुत-से नये लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ।

लेखों को प्राप्त करके ही गौड़जी शान्त न होते थे। वे सदैव उन्हें बहुत अच्छी तरह संपादित करते थे और सजाते थे। हिंदी के बहुत-से पत्रों में वैज्ञानिक लेख तो प्रकाशित होते हैं, पर उनका गौड़जी के समान कोई संपादन नहीं करता। मैंने 'विज्ञान' को अपना पहला लेख 'बिनौले' पर भेजा था। इस लेख का शीर्षक उन्होंने बनाया—'कूड़े से सोना कैसे पैदा किया जाता है ?' रूई से अधिक 'बिनौले के उपयोग' लेख का शीर्षक जोरदार बनाने के साथ ही उन्होंने लेख के बीच में सब-हेडिंग जोड़कर लेख में नयी जान-सी डाल दी। इस संबंध में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा भी था—'मैं लेखों को सजाना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। वैज्ञानिक लेखों को सजाना सहज नहीं है। सम्पादक परिश्रम से भागते हैं और इसीलिये ज्यों का त्यों छाप देते हैं।'

गौड़जी देशव्यापी गरीबी और बेकारी को दूर करने के लिये तथा विदेशी धन-शोषण को रोकने के लिये सदैव कितने चिंतित रहते थे, उसका अनुमान विज्ञ पाठक उनके निम्नलिखित पत्र से लगा सकते हैं।

"सौर २६ पौष, १९६१

प्रिय कपूरजी, वन्दे।

आपका ६ । १ । ३५ का कृपा-पत्र मिला। हमको अधिकांश ऐसे ही विषयों पर लेख चाहिये। (१) जो बिना मशीनरी के गरीब लोग अपने झोपड़े में अपने हाथ से बना सकें, और (२) जिसके द्वारा विदेशी धन-शोषण घटे या रुके। आप सामग्री वही दें, जो देश में मिल सके। जैसे गंधक का तेजाब और रेंडी का तेल, टर्की रेंड आयल के लिये गनीमत है। परंतु उनके Chemicals का प्रयोग न हो, जिससे विदेशों को लाभ हो। फिर, व्यसन की सामग्री पर हमारा ध्यान कम होना चाहिये। अधिकांश वही सामग्री तैयार हो, जो हमारे वर्त्तमान यापन-परिमाण (Standard of living) के लिये आवश्यक हो। बस, इन बातों को ध्यान में रखकर आप छोटे-छोटे लेख दें। बिसाती की दूकानों पर जितनी चीजें मिलती हैं, सभी पर लेख चाहिये। जापान, जर्मनी, अमेरिका, इंगलैंड आदि जो चीजें भेजकर हमें चूसते हैं, उन चीजों का निर्माण हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिये।"

गौड़जी को अभी हाल ही में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने उनकी 'विज्ञान-हस्तामलक' नामक पुस्तक के लिये १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया था। यह पुस्तक प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के अतिरिक्त गौड़जी ने 'भारी भ्रम', 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद', 'विज्ञान-प्रवेशिका', बालकों को राष्ट्रीय शिक्षा देने के लिये 'बालपोथियों' के आठ भाग, 'रामचरितमानस की भूमिका' 'योरप का इतिहास' तथा 'हिंदुत्व' आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की

८

रचना की थी। उनकी विद्वत्ता असाधारण थी। फारसी-उर्दू उनकी भाषा थी, पर संस्कृत, अँगरेजी, मराठी, गुजराती, बँगला तथा तेलगू के भी वे अच्छे विद्वान् थे। रामायण के तो वे प्रकांड पंडित थे। हिंदुस्तान में रामायण की जितनी टीकाएँ छपी हैं, सब उन्होंने पढ़ी थीं। अधिकांश संग्रह भी उनके निजी पुस्तकालय में हैं। रामचरितमानस की भूमिका के पाठकों को यह भली भाँति मालूम होगा कि इस महाग्रंथ पर उन्हें कितना अधिकार था। रामायण ग्रंथ के पाठ-संशोधन के अलावा गौड़जी ने उसके बालकांड का एक बड़ा ही सुन्दर तथा बृहत् अनुवाद भी किया है; पर वह अभी तक अप्रकाशित है।

रामायण ही क्या, गौड़जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। गौड़जी की-सी असाधारण विद्वत्ता के आदमी बिरले ही देखने में आते हैं। एम० बी० हिल की प्रसिद्ध पाठ्य पुस्तकें हिंदी में सब गौड़जी ही ने लिखी थीं। आयुर्विज्ञान पर भी इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। बड़े-बड़े प्रसिद्ध हिंदी-लेखकों तक की हिंदी का यह संशोधन करते थे। स्व० श्रीप्रेमचंद के उर्दू प्रेमाश्रम को हिंदी में प्रकट करने में गौड़जी का बहुत हाथ था।

अस्तु, इतने प्रकांड विद्वान् होते हुए भी गौड़जी का सारा जीवन आर्थिक कठिनाइयों में व्यतीत हुआ। वास्तव में आर्थिक कठिनाइयों ने आजन्म उनका साथ न छोड़ा। गुलाम देश की गुलामी की यादगार में अपनी गरीबी से लिपटकर गौड़जी ने समय बिता दिया। वे चले गये, उनकी गरीबी रह गयी। आज उनका परिवार उनकी यादगार में उनकी गरीबी के लिये सिसक रहा है।

निर्धन माता-पिता से जन्म लेकर गौड़जी ने बाल्यकाल ही से गरीबी का पाठ पढ़ा था। विद्यार्थी-जीवन में २) मासिक शुल्क देना भी दुर्लभ हो जाता था और एक बार तो आठ मास तक आप फीस न दे सके थे। परंतु आप पढ़ते थे काशी के सेण्ट्रल हिंदू-कालेज में और उसके

प्रिंसपल थे सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० आर्थर रिचर्डसन्। हिंदू-कालेज नया था। विशेष रूप से गरीब छात्रों के लिये बना था। ऐसे ही छात्र भर थे, जिन्हें सब तरह की सहायता चाहिए थी और उनके सहायक भी थे डाक्टर रिचर्डसन्-जैसे दयालु, करुणाकर और उदार आचार्य। अन्य निर्धन प्रतिभावान् विद्यार्थियों ही की भाँति गौड़जी पर डाक्टर साहब अतुल कृपा रखते थे। इस संबंध में गौड़जी ने एक बार लिखा था—

"हिंदू-कालेज में फ़ीस बहुत थोड़ी थी—२) मासिक। आठ मास का बकाया जब चढ़ चुका तो मैंने देने में असमर्थता प्रकट की। डाक्टर साहब ने शुरू से मुझे फ्री कर दिया। बोर्डिंग-हाउस में १०) मासिक छात्रवृत्ति देकर रक्खा। यद्यपि मैं क्लास में अव्वल रहता था, तथापि अव्वल के लिये कोई छात्रवृत्ति न थी। मेरी निर्धनता पर डाक्टर साहब ने यह छात्रवृत्ति देकर मेरी सहायता की थी। इस तरह के उनके कृपा-पात्र अनेक छात्र थे। आजकल का-सा हिंदू-विश्वविद्यालय का खर्च होता तो हमलोग ऊँची शिक्षा कदापि न पा सकते।"

इस संबंध में एक दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा था—

"विद्यार्थी-जीवन की आर्थिक कठिनाइयों का जैसा कटु अनुभव मुझको हुआ है, मैं ही जानता हूँ। और आज भी मेरी क्या दशा है, कहने योग्य नहीं है। मेरे मित्र जानते हैं। आपकी स्थिति समझना मेरे लिए कठिन नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि लेखों के लिए पुरस्कार कैसे मिलता है। विशाल भारत से दो-दो साल पर मुझे मिला है। सैकड़ों तकाजों पर और फिर भी आधा। चतुर्वेदीजी-जैसे सहृदयों की जब यह दशा है, तब औरों की क्या कहूँ। पर चतुर्वेदीजी का दोष विशाल भारत के लेखकों का पुरस्कार भिजवाने न भिजवाने में अधिक नहीं है। × × × × विश्वमित्र को मैं अच्छा समझता हूँ। आप उसे अपने लेख दिया करें। परन्तु साधारणतया जो देते हैं, वे भी इतना कम देते हैं कि मुझे तो लिखने का साहस तक नहीं होता।"

अस्तु, काशी के हिन्दू-कालिज से एफ० ए० पास करने के बाद, आपने प्रयाग के म्यूर सेंट्रल कालिज से बी० ए० किया और बाद में विज्ञान में प्राइवेट एम० ए०। बी० ए० के बाद आप कुछ दिन कायस्थ-पाठशाला में रसायन के अध्यापक रहे और सं० १९६३ में म्यूर सेंट्रल कालिज में, जो उन दिनों सरकारी कालिज था। आप रसायन-विभाग में डिमांस्ट्रेटर हो गये और उसी दशा में रसायनशास्त्र में एम्० ए० की परीक्षा पास की। आप बड़े स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। इसलिये वहाँ के अफसरों से आपकी न पटी। अधिकारियों के कोप-भाजन का एक प्रमुख कारण आपका उत्कट हिंदी-प्रेम था। उस जमाने में हिंदी-संबंधी कुछ काम करना भी राजनीतिक काम समझा जाता था। फलतः ग्यारह साल तक नौकरी करने के बाद संवत् १९७५ में आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी और हिंदू-विश्वविद्यालय में चले गये। वहाँ आप विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। यहाँ काम शुरू ही किया था कि असहयोग आंदोलन शुरू हो गया और उसकी आँधी में आप जेल चले गये। वहाँ से आने के बाद आपने कुछ समय गुरुकुल काँगड़ी में और बाद में काशी-विद्यापीठ में काम किया; परंतु अंत में आपको अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण पुस्तक-लेखन ही को आजीविका-उपार्जन का साधन बनाना पड़ा।

आर्थिक संकट में सदा प्रसन्न रहना तथा घर पर कलह, बातचीत, शोर-गुल तथा हर तरह की उलझन होते हुए भी फटे-मैले टाट पर बैठकर चुपचाप, अन्यमनस्क रूप से लेख लिखे जाना, यह गौड़जी की खासियत थी।

विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही गौड़जी हिंदू-धर्म के जबर्दस्त समर्थक थे। निर्धनता के साथ ही धार्मिकता का पाठ भी गौड़जी ने अपने बाल्यकाल में अपने माता-पिता ही से सीखा था। कहा जाता है कि छ वर्ष की आयु में उन्होंने पूरी रामायण समाप्त कर दी

थी। रामायण को आप बड़ी श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते थे। रामायण के समान गीता में भी उनकी अगाध भक्ति थी। शायद गीता की भक्ति ही के कारण वे इतने 'पक्के' हो गये थे कि हँस-खेलकर संसार की मुसीबतें झेलते गये। आपकी दिनचर्या बिलकुल तपस्वियों के समान थी। कायस्थ होते हुए भी एक कट्टर ब्राह्मण के समान कर्मकाण्ड का पालन करते थे। गुरुकुल में रहते हुए भी आप कट्टर सनातनी ढंग से नियमित रूप से पूजा-पाठ करते थे। रामायण और गीता के अतिरिक्त उन्होंने हिंदू-धर्म-ग्रंथों का भी गम्भीर अध्ययन किया था। इसी अध्ययन के बल पर गौड़जी ने हिंदू-पौराणिक बातों का आधुनिक विज्ञान से समन्वय करने का प्रयत्न किया था। 'पौराणिक सृष्टि और विकास-वाद' पर आपने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तिका भी लिखी थी। अपनी अंतिम पुस्तक 'विज्ञान-हस्तामलक' में भी उन्होंने अपने समन्वय-संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।

विज्ञान-वेत्ता होते हुए भी उन्हें परलोक-विद्या और प्रेत-विद्या में भी विश्वास था। इस संबंध में उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया था। उनकी भूत-प्रेत-विद्या की हिमायत से लोग उनकी निंदा भी करने लगे थे। उनके कुछ मित्रों ने इस बात की ओर उनका ध्यान भी आकर्षित किया था, पर उन्हें इसकी कोई चिंता नहीं थी। उनका कहना था—"मैं जिस बात में विश्वास करता हूँ, उसे कहने में संकोच नहीं करता, चाहे जमाना कुछ भी कहे।" इस संबंध में उन्होंने श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री को अपने एक पत्र में लिखा था—"भूतों के पीछे इतना क्यों पड़े रहते हैं? सुनिए। इससे बड़ा कोई भ्रम नहीं कि मैं भूतों के पीछे पड़ा रहता हूँ। भूत सबके पीछे पड़े रहते हैं, लोग जानते नहीं, मैं जानता हूँ। उनसे बचने के उपाय भी जानता हूँ। करता भी हूँ। मैं इससे अधिक भूतों से और कोई संबंध नहीं रखता। रामोपासक हूँ। भगवान् को प्राप्त करने से आँखें खुल गयीं! अदृश्य प्राण

दृश्य हो गये। आप कहें कि 'यह सिद्धि है और तुम सिद्ध हो गये' तो मुझे सिद्ध कहलाने में इनकार नहीं है। उपासना-मार्ग के यह ठीकरे हैं, ठोकरें हैं। मैं इनसे बचा और ठोकरें खानेवालों को बचाना या सतर्क कर देना अच्छा समझता हूँ। कोई माने, चाहे न माने। तथोक्त 'सिद्ध' महात्मा इन बातों को इसीलिए गुप्त रखते हैं कि अविश्वास और निंदा से बचे रहें। मुझे यह चेतावनी दी गयी। परंतु लोकोपकार के लालच से मैंने यह जोखिम उठा ली। 'लोग कहें पोच सो न सोच औ सकोच मेरो' जो लोग दैविक ताप नहीं मानते, उन्हें भूकम्पादि चौंका देते हैं। जो भौतिक नहीं मानते, उन्हें उग्र प्रेत-बाधा मनवा छोड़ती है। नहीं तो कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो तीन तापों से पीड़ित न हो और पीड़ा का निवारण भगवान् को छोड़ कोई नहीं कर सकता। सांसारिक उपचार तो मायाजाल है, जिसमें उपासक और नास्तिक दोनों उलझे हुए हैं। आपकी पीड़ा सुनकर मैंने लिखा। आपने शुद्ध भाव से पूछ लिया, अतः उत्तर भी दिया। निंदकों का मुँह बंद करने की मुझे बिलकुल चिन्ता नहीं है।"

बच्चों को राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा देने के लिये गौड़जी के अपने निजी विचार थे। असहयोग आंदोलन के बाद महात्मा गाँधी की प्रेरणा से गौड़जी ने बच्चों के लिये 'बालपोथी' नाम से आठ पुस्तकों की रचना की थी। इनमें से ५, ६, ७, और ८ भागों को युक्तप्रांतीय सरकार ने १६२५ में जब्त कर लिया था और वे पाठ्य सूची से निकाल दिये गये थे। हिंदी में बच्चों के लिये इतनी अच्छी पोथियाँ अभी तक नहीं लिखी गयी हैं। इन पुस्तकों को फिर से जारी करने से समाज और गौड़जी के परिवार दोनों ही का कल्याण होगा। बच्चों के लिये अच्छी पाठ्य पुस्तकें मिल जाने के साथ ही उनकी आमदनी से गौड़जी के परिवार का भरण-पोषण भी हो जायगा।

बच्चों की शिक्षा ही के समान ही आप समाज-सुधार-संबंधी बातों में

भी बहुत आगे थे। आपने विवाह के लिये यह आदर्श बनाया था कि कि प्रथम श्रेणी के विवाह में २००) तथा द्वितीय श्रेणी के विवाह में १००) खर्च हों और बारात में दस आदमी से ज्यादा न आवें। फलतः अपनी लड़की शांता की शादी आपने इसी प्रकार की थी।

देश-हितैषिता को तो पूछना ही क्या? राष्ट्रीय उत्थान के लिये, अपने लगे-लगाये धंधे तक को छोड़ने में आनाकानी न की और मृत्यु-पर्यंत अपने स्वदेश-व्रत को निबाहा। पैसे-पैसे को तंग रहे। गृहिणी के कोप-भाजन बने, गृह-कलह के शिकार हुए; पर अपने व्रत को न छोड़ा। स्वदेशी के कट्टर समर्थक। असहयोग आंदोलन के बाद सदैव खद्दर धारण करते थे और सूत कातने का नियम बना लिया था। रहन-सहन इतना सादा और आडंबर-शून्य था कि कोई उन्हें देखकर एकाएक यह अनुमान भी न कर सकता था कि गौड़जी विज्ञान और शास्त्रों के इतने प्रकांड पंडित हैं। सच पूछा जाय तो उन्होंने अपना सर्वस्व देश-हित पर निछावर कर दिया। उन्होंने जितना त्याग और सेवा की, उतना उनका सम्मान न किया जा सका। सम्मेलन ने उन्हें इस वर्ष मंगलाप्रसाद-पारितोषिक अवश्य प्रदान किया। परंतु, वह भी उनके आधा पुरस्कार लेने से इनकार करने पर। पारितोषिक मिलने के अवसर पर बधाई देने के उत्तर में उन्होंने लिखा था—पारितोषिक तो आधा लेने से इनकार करने पर पूरा मिला है! बधाई के लिये धन्यवाद।

गौड़जी की बीमारी इतनी आकस्मिक थी कि हममें से बहुतों को तो उनकी बीमारी का कोई समाचार ही न मिल सका। समाचार-पत्रों में असमय ही में उनके देहावसान का समाचार पढ़कर हृदय दहल गया। वे दो-तीन दिन तक साधारण बेरी-बेरी रोग से पीड़ित रहे। भाद्रपद शुक्ल ७, रविवार की रात में दस बजे तक लेख लिखते रहे। एकाएक साढ़े बारह बजे रात को 'राम-राम' कहते हृदय की गति रुक गयी और वे रामधाम को पहुँच गये। मृत्यु के समय उनकी अवस्था लगभग ५६ वर्ष की थी।

उनकी मृत्यु से हिंदी-संसार को जो क्षति पहुँची है, उसकी निकट-भविष्य में पूर्ति होने की कोई आशा नहीं है। परंतु, वे अपने परिवार को तो सदैव ही के लिए अनाथ छोड़ गये हैं। दो छोटे लड़के—जिनमें से पहले को उन्होंने गोद लिया था, जिसके गोद लेने के डेढ़ बरस बाद दूसरा (पहला) लड़का पैदा हुआ तथा दो छोटी अविवाहित कन्याएँ और एक विधवा स्त्री छोड़कर वे इस संसार से चले गये। उनका कोई सहारा नहीं—केवल एक ही सहारा है, जिस सहारे में गौड़जी को सबसे अधिक विश्वास था—जिसकी वे घंटों पूजा करते थे और जिसके लिए वे कहा करते थे कि "यदि मैं अमीर होता तो शायद मेरी बुद्धि खराब हो जाती और मैं उसको भूल जाता।" उनके दोनों छोटे बच्चों, दोनों लड़कियों और उनकी विधवा पत्नी की आजीविका का कोई उपाय नहीं। हिंदी के ज्ञान-भण्डार को बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण करनेवाले तपस्वी रामदास गौड़ ने अपने परिवार को बिलकुल निर्धन और असहाय अवस्था में छोड़ा है। यह हमारा महान् दुर्भाग्य है। विदेशों में रामदास गौड़ की-सी ख्याति के लेखक मरते समय लाखों रुपये की सम्पत्ति छोड़ जाते हैं और भारत में राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य सेवकों के बच्चों को, उनकी मृत्यु के बाद रोटियों के भी लाले पड़ जाते हैं।

—श्यामनारायण कपूर

मुंशी अजमेरीजी

एक बालक सेजगाड़ी में बैठकर अपने पिता के साथ कहीं जा रहा था। उसके मन में क्या था, कौन जाने। पिता ने अपने सामने से पंखा उठाकर एक ओर रक्खा था कि बालक ने उसे फिर जहाँ का तहाँ रख दिया। एक बार हुआ, दो बार हुआ, और तीसरी बार भी फिर वही बात। तब पिता ने बालक को गहरी डाँट बता दी। बालक सहन न कर सका। काँपते हुए खड़े होकर उसने कहा—घर से तो फुसला-फुसलाकर लाये थे और अब यहाँ नाराज होते हैं। रोको गाड़ी, मैं यहीं उतरूँगा। पिता ने कहा—रोक दो गाड़ी, उतारो इसे यहीं। गाड़ी जंगल में होकर जा रही थी। सब ओर निर्जन ही निर्जन था। दुख और क्रोध में सब कुछ भूलकर बालक वहीं उतर पड़ने के लिये तैयार हो गया। ऐसे समय साथ बैठे हुए एक अन्य युवक ने बालक को पकड़कर अपनी गोद में ले लिया। उसके आँसू पोंछे, पीठ थपथपायी। मधुर सान्त्वना दी। यह युवक और कोई नहीं, श्रद्धेय मुंशीजी (राजकवि श्री अजमेरी) थे और वह बालक इन पंक्तियों का यही लेखक।

यह घटना इतनी पुरानी है कि स्वयं मुझे याद न थी। मुंशीजी ने ही इसे सुनाया है। गोष्ठियों में बार-बार ऐसे रोचक ढंग से सुनाया है, कि अब मेरे लिये यही उनकी पहली स्मृति हो गयी है।

मुन्शीजी हमारे परिवार के ही अंग थे। फिर भी मुझे उनकी पहली बात उस समय की याद है, जब मैं कवि बनने के लिये आतुर हो रहा था। दोहे में चौबीस मात्राएँ होती हैं ; इसकी शिक्षा मुझे भैया से मिली थी। परंतु केवल दोहे लिखकर मेरी आत्मा तृप्त कैसे होती ? एक दिन मैंने पता चलाया कि संस्कृत के वसंततिलक-छंद में चौदह अक्षर होते हैं, मात्राएँ गिनने की आवश्यकता वहाँ नहीं। मेरे लिये यह खोज कम न थी। खोज का उपयोग भी उसी समय कर डाला। कई वसंततिलक लिखकर मुन्शीजी के सामने रख दिये। देखकर उन्होंने पूछा—यह छंद क्या है ? मैं संकुचित हो गया। डरते-डरते मैंने उत्तर दिया—वसंततिलक। वसंततिलक में चौदह अक्षर होते हैं। मुन्शीजी ने अक्षर गिनने की आवश्यकता नहीं समझी। कहा—चौदह अक्षर होने से ही वसंततिलक नहीं होता। अक्षर एक क्रम से बिठाने पड़ते हैं। तुम्हारा यह छंद तो कुछ नहीं हुआ। इसके बाद उन्होंने मेरी गलती मुझे समझा दी।

कवि बनने की मेरी लालसा तीव्र हो रही थी। सीखने के लिये सुयोग भी मेरे पास था। परंतु सुयोग के साथ असुविधा न थी, यह नहीं कह सकता। यह वाँछनीय न था कि घर में सब कवि ही कवि हो जायँ। होना चाहें, तो हो कैसे सकते हैं। मेरे लिये प्रबंध किया गया कि मैं रोकड़-बही का काम सीखूँ। मेरा मन वहाँ भागा-भागा रहता। सोचता कि कब मौका मिले और मैं भागूँ—बचूँ। एक दिन ऐसे में मुन्शीजी की चपेट में आ गया। मैं निश्चिंत होकर जोर-जोर से किसी कविता की आवृत्ति कर रहा था। जोर-जोर से इसलिये कि कविता केवल मन के उपभोग की वस्तु नहीं है। चुपके-चुपके रसना तृप्त होती हो तो कान क्योंकर न चाहें कि वे वंचित न हों। इसी जीभ और कान के अति लोभ ने उस दिन धोखा दिया। मुंशीजी ने डाँटकर कहा—जब देखो तब वही काम। जो बताया जाता है, वह क्यों नहीं करते ? अब इस तरह पाया तो पिटोगे।

मुंशीजी ने कौटुम्बिक हित की दृष्टि से ही डाँटा था । उन का डाँट देना दूसरे के पीटने के बराबर था। इसका उन्हें पूरा अधिकार भी था। परंतु मुझे बुरा मालूम हुआ। मैं उनसे बचने की चेष्टा करता। फिर भी बचता कहाँ तक ? जब कुछ लिखता तो सम्मति और संशोधन के लिये उन्हीं के पास जाना पड़ता।

उस समय की अपनी उस कविता-कृति की बात सोचकर अब आज हँसी आती है। इस समय वह किसी तरह प्रकट हो पड़े, तो कह नहीं सकता, लज्जा से कितना नीचे गड़ जाऊँ। आज मैं भी चाहूँगा कि वैसे कवि से कविता की रक्षा करके उसे रोकड़-बही के काम में लगा देना ही अच्छा है। पर, ढीठ लड़के पर बातों का असर कब होता है ? उन्हीं दिनों कवि पोप के बचपन की एक बात मैंने सुनी थी। पोप के पिता उसे कविता लिखने के लिये रोकते थे। आर्थिक दृष्टि से पुत्र के लिये यह काम आशाजनक न था। एक दिन पिता ने बालक को कविता करते समय जा पकड़ा। जब बालक की पीठ पर बेंत पड़ने लगे, तब उसने कहा—क्षमा कीजिये। पिता, क्षमा कीजिये अब मैं कविता न लिखूँगा। पिता ने निराश होकर कहा—यह तो छंदोबद्ध कविता में ही बोल रहा है। मुझे यह बात बहुत रुची। उसी तरह पिटने के लिये किसी दिन की कल्पना किये बिना मैं भी न रह सका। भाग्यवश वह विपत्ति कभी सामने नहीं आयी। भाग्यवश, इसलिए कि यदि कभी वैसा प्रसंग आता तो मैं समझता हूँ आँसू तो मेरी आँखों से बहुत निकलते; किंतु कविता की एक पंक्ति निकलना भी असम्भव-सा था। उन्हीं दिनों की एक बात बहुत याद आती है। मेरे किसी शब्द या प्रयोग पर मुन्शीजी ने आपत्ति की—यह अशुद्ध है। मैंने कहा— ऐसा तो श्रीधर पाठक ने भी लिखा है। मुन्शीजी ने उत्तर दिया—उन्होंने लिखा है तो अशुद्ध लिखा है। नकल किसी की मत करो। पाठकजी के गुण तो ला नहीं सकोगे, दुर्गुण ही दुर्गुण तुम्हारी रचना में आ जायँगे।

मुन्शीजी को स्वच्छता का बहुत ख्याल था। यह भीतरी हो या बाहरी। भैया के साथ मेरी कविताओं में भरपूर संशोधन तो वे करते ही थे, पत्र-पत्रिकाओं के लिये भेजते समय उनकी प्रतिलिपि भी प्रारम्भ में बहुत दिनों तक उन्हीं को करनी पड़ती थी। मुन्शीजी जब मेरी कविताओं की प्रतिलिपि भी कर देते थे, तब मुझे ऐसा लगता था, जैसे वह मेरी रचना न हो। संशोधन के लिये भैया उन्हें रोकते थे कि ऐसा न करो, जिसमें यह रचना तुम्हारी ही हो जाय। मुन्शीजी का विचार कुछ ऐसा था कि संशोधन-योग्य स्थल पर कलम न चलाना काहिली है। फिर भी उन्होंने एक बार कुछ कम कलम चलायी। कविता भी कुछ लम्बी थी। 'वीर बालक' के नाम से वह 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई। उसे देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने भैया को लिखा कि आपके नाम से यह कविता मैं 'सरस्वती' में दे दूँ ? याद रखने योग्य कदाचित् यही पहली प्रशंसा मुझे अपने साहित्यिक जीवन में मिली। भैया ने उत्तर में लिखा—मैं यह उचित नहीं समझता। वह रचना मेरी नहीं है। बाद में भैया ने और मुन्शीजी ने फिर उसका संशोधन किया। पूज्य द्विवेदीजी भाषा-परिष्कार का ध्यान बहुत रखते थे। कविता 'सरस्वती' के गौरव के प्रतिकूल न पड़े, इसलिये यह पुनरपि संस्कार आवश्यक समझा गया। पहिले छपी हुई कविता पर ही ये नये संशोधन करके उसे भेजते समय मुन्शीजी को यह संतोष हुआ था कि अब द्विवेदीजी महाराज भी देख लेंगे कि यह कविता पहिले वैसी थी और अब हो गयी है ऐसी। पूज्य द्विवेदीजी को यह बताना न होता तो मुन्शीजी वह कटी-कुटी प्रति कदापि न भेजते। इस सम्बन्ध में मेरी इच्छा-अनिच्छा का कोई सवाल न था। किसी एक जगह भी जरा-सा कट-कुट जाने पर फिर से पूरा का पूरा पृष्ठ लिखते उन्हें उस समय मैं बीसियों बार देख चुका हूँ।

मुंशीजी की इस प्रवृत्ति के कारण एक बार मुझे बहुत लज्जित होना पड़ा। मैं पहली बार स्वतंत्र रूप से कानपुर गया था। जाना था मुझे

काशी के लिये। परंतु कहीं बीच में ही मैं किसी के द्वारा गुम न कर दिया जाऊँ, इसलिये घर से यह प्रबन्ध किया गया था कि कानपुर में मैं श्री गणेश शंकरजी के यहाँ सन्देहास्पद व्यक्ति की तरह हाजिरी लिखा आने के लिये उतर पड़ूँ और वहाँ से वे स्वयं स्टेशन जाकर मुझे ठीक ट्रेन पर सवार करा देंगे।

मैं विद्यार्थीजी के सुखद आतिथ्य का उपभोग कर रहा था। इसी समय एक सम्पादक महोदय वहाँ पधारे। मेरा परिचय पाकर उन्होंने अपने पत्र के लिये मेरी कोई कविता चाही। मेरे कुछ कहने के पहले ही विद्यार्थीजी ने कहा—इन्हें कविता लिखनी तो आती नहीं। कम से कम मैंने इनके हाथ की लिखी कोई कविता नहीं देखी। सचमुच मेरे हाथ से लिखी कोई कविता तब तक उन्होंने नहीं देखी थी। परंतु, फिर भी उस बात ने मुझे चोट पहुँचायी। किसी नवीन कवि यशःप्रार्थी से कोई सम्पादक स्वतःप्रेरित होकर कविता के लिये प्रार्थना करे और ठीक उसी समय बीच में आकर कोई अन्य व्यक्ति मामला बिगाड़ देने पर उतारू हो, तब कुछ न कुछ बुरा लगने की बात है अवश्य! तत्काल असहिष्णु होकर मैंने उत्तर दिया—भैया की कविता की प्रतिलिपि भी प्रायः मुंशीजी ही करते हैं। आपने उनकी लिखी भी कोई कविता न देखी होगी। बात मुँह से निकल चुकी, तब जान पड़ा कि मेरा तीखा स्वर निकले हुए शब्दों से कुछ अधिक प्रकट कर बैठा है। मैं लज्जित हुआ। वास्तव में विद्यार्थीजी उन महोदय को टालना चाहते थे। उनके कविता माँगने का ढंग उन्हें शिष्टाचारसम्मत नहीं जान पड़ा था।

मुन्शीजी सत्कवि थे, भाषा पर उनका अधिकार असाधारण था। ब्रजभाषा, राजस्थानी और आधुनिक हिंदी में समान रूप से लिख सकते थे। वर्ण्य विषय का चित्र-सा खींच देने की शक्ति उनमें विलक्षण थी। कवित्व उनके लिये स्वाभाविक होने के कारण ही संभवतः उसकी ओर वे यथोचित ध्यान नहीं दे सके। स्वतः लिखने की अपेक्षा दूसरों की

रचना में संशोधन करने और उन्हें उचित सलाह देने में ही उनको कवित्व का संतोष हो जाता था। कोई नया कवि उनके पास आता, तो उसके लिये अपना यथेष्ठ समय देने में उन्हें कभी संकोच न होता था। इसी से वे थोड़ा लिख सके हैं ; परंतु जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें उनके विशेषत्व की छाप है। लिखते भी बहुत शीघ्र थे। एक दिन कहीं जाते-जाते उन्होंने एक बड़े छन्द में पचास-साठ पंक्तियाँ तैयार कर डालीं। आकर जब उन्होंने मुझे सुनाया तो मैंने कहा—यह ठीक नहीं है। इन पंक्तियों का बोझा मस्तिष्क से उतारकर कागज पर रख दीजिये। संभव है इस तरह के अनेक आवश्यक बोझों के कारण ही आप लिखने की ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाते। मुंशीजी ने मेरी बात मानकर वह कविता जितनी उस समय तक तैयार हो चुकी थी, लिखकर रख ली। वह किसी कविता-पुस्तक का प्रारम्भिक भाग था। परंतु कागज पर उतार देने से ही जैसे उनका काम पूरा हो गया। फिर वह कविता कभी पूरी न हो सकी।

एक बार प्रवास में उन्हें अवकाश मिला। बातचीत करके किसी अन्य व्यक्ति को संतुष्ट कर सकें, संभवतः यह सुयोग उस समय उन्हें न होगा ; तब उन्हें सूझा कि अपने से ही बात करके अपने को संतुष्ट किया जाय। कविता आत्म-संतोष का ही दूसरा नाम है। परिणाम यह हुआ कि दस-बारह दिन में ही वहाँ बैठकर उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता पुस्तक "हैमलासत्ता" लिख डाली।

उसीको देखकर पहले-पहल मेरे मन में आया कि क्या अच्छा हो यदि मुन्शीजी ऐसा ही कुछ और साहित्यिक कार्य करें। शक्ति का यथोचित उपयोग न करना नैतिक अपराध है। मैंने मुन्शीजी को तंग करना शुरू किया। वे असंतुष्ट नहीं हुए। वैसे उनका जैसा स्वभाव था, वे नाराज होकर कह सकते थे—यह बेगार अपने से नहीं होने की। उन्होंने कुछ लिखा भी—परंतु मौजी जीव थे, अधिक ध्यान न दे सके।

मैं अधिक का इच्छुक था। श्रेयसि केन तृप्यते। जो व्यक्ति चलते-जाते, दस-दस पंद्रह-पंद्रह छंद बनाने की क्षमता रखता हो, उसने हजार-दो हजार पंक्तियाँ दे भी दीं, तो उतने से जी किसका भर जायगा। मेरी इस प्रवृत्ति के लिये अपने 'गोकुलदास' नामक काव्य में उन्होंने मेरे लिये इस प्रकार लिखा था :—

"अब मेरे लिये यही ठीक था कि मैं प्रेम से तुम्हारी रचनाओं का आनंद प्राप्त करता रहता, पर तुम्हारी निरंतर प्रेरणाओं ने मुझे इस अवस्था में भी—विश्राम न लेने दिया ; उठाया, बैठाया और दौड़ाया भी। मैंने बहुत कहा कि मैं कहीं गिर-गिरा पड़ूँगा, पर तुमने मेरी एक भी न मानी।"

मेरे कहने से मुन्शीजी ने लिखने की ओर जो थोड़ा-बहुत ध्यान दिया, उसे मैं अपने लिये बहुत बड़े गौरव की बात समझता हूँ। मेरे इस उत्पीड़न का उल्लेख करते-करते वे गद्‌गद हो उठते थे। उनका हृदय ऐसा ही कोमल, सरस और भावुकता से भरा था।

उनकी सूझ-बूझ विलक्षण थी। बातचीत में उनका प्रत्युत्पन्न-मतित्व स्वयं देखने और रस लेने की वस्तु था। आवश्यक होने पर तुरन्त बात करते-करते छन्द-रचना करके श्रोता को चकित कर देना उनके लिये साधारण बात थी। आशुकवियों की कविता में स्थायित्व का गुण प्रायः नहीं देखा जाता। फसल के पौधों की तरह आयी और बह गयी। परंतु मुन्शीजी की कविता की बात दूसरी है। बड़े-बड़े साहित्य-मर्मज्ञों को मुग्ध करने का गुण उनमें भरा था। मैं उस समय वहीं बैठा था। आचार्य द्विवेदीजी ने उन्हें आज्ञा की—कुछ अपना ही सुनाओ। मुन्शीजी ने अपने कुछ कवित्त पढ़े। सुनकर द्विवेदीजी बहुत प्रभावित हुए। कहा—आपने तो भूषण को मात कर दिया। पास ही मार्मिक समालोचक पंडित रामचंद्रजी शुक्ल बैठे थे। उन्होंने कहा—भूषण में भाषा की ऐसी स्वच्छता और संस्कार नहीं मिल सकता।

कहीं बाहर जाते थे तो वहाँ से मेरे लिये लंबे-लंबे पत्र लिखा करते थे। उनकी इच्छा यही रहती थी कि जो कुछ आनंद का उपभोग उन्हें हो, उसका लाभ हम सबके भाग में भी आना चाहिये। वे पत्र बार-बार पढ़ने की वस्तु होते थे।

मुन्शीजी ने अपने जीवन में काफी उतार-चढ़ाव देखे थे। जब उनके पिता की मृत्यु हुई, तब उनकी अवस्था सोलह-सत्रह की थी। एक साथ ही उस समय दुर्बल कन्धों पर गृहस्थी का बोझ आ पड़ा था। उस समय जीविका के लिये उन्हें दूर-दूर तक ऊँट की सवारी साथ लेकर भ्रमण करना आवश्यक हुआ। उस भ्रमण में उन्हें बे-जाने कितने भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति मिले, न जाने कितने-कितने हर्ष-विषाद और आशा-निराशा के प्रसंग उनके सामने आये।

उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि बरसों बीत जाने पर भी साधारण से साधारण बात उन्हें याद बनी रहती थी। उनके स्मृति-पटल पर वे सब प्रसंग आज भी उसी दिन की ताजगी से अंकित थे। मैंने कहा—आप अपना भ्रमण-वृत्तान्त आत्मकथा के साथ लिख डालें, तो मैं समझता हूँ हिंदी में यह चीज बेजोड़ होगी। उन्होंने टाल-टूल तो की, परंतु मेरा खयाल है, मेरा प्रस्ताव उन्हें पसंद आ गया था। फिर भी ऐसे किसी काम के लिये उन्हें बार-बार प्रेरित करना आवश्यक था। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले जब मैंने फिर वही अनुरोध उनसे किया, तो मुझे आशा हुई थी कि अब की बार कदाचित् उन्हें इस काम पर बैठा सकूँगा। एक बार उन्हें बैठा भर देने के बाद कठिनाई न थी। परंतु किसे मालूम था, वह बात होने की नहीं है।

स्वर्गीय प्रेमचंदजी की आत्मकथा के लिए भी मैं बहुत उत्सुक था। उन्होंने मेरा अनुरोध मान भी लिया था। परंतु न तो उन्होंने अपनी आत्मकथा लिख पायी और न मुंशीजी ने ही, कदाचित् नियम

ऐसा है कि हमलोग जिस वस्तु के लिये बहुत उत्सुक हों, वह प्रायः हमारे हाथ नहीं पड़ती।

मुन्शीजी बीच-बीच में कहा करते—अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझसे काम नहीं बन सकता। यह वृद्ध होने की भी कैसी मनहूसी बात है! मैं कहता—आप वृद्ध कैसे हो गये? मैं आपके सामने बच्चा हूँ, आप अधिक से अधिक तरुण हो सकते हैं, यदि किशोर न रहना चाहें।

आज जब वे हमलोगों के बीच में से चले गये हैं, तब भी मन यह मानने के लिये तैयार नहीं होता कि वे वृद्ध हो गये थे। संसार में प्रायः अकाल मृत्यु ही देखी जाती है। मुन्शीजी के संबंध में तो मृत्यु किसी समय भी ऐसी ही मालूम होती।

खरी बात कहने में चूकते उन्हें कभी नहीं देखा गया। सत्य के लिये वे अपनी स्वाभाविक मृदुता और अपने हानि-लाभ का भी परित्याग कर देते थे। द्विवेदी-अभिनंदन के उत्सव का सभापतित्व करने ओरछा के महाराजा साहब काशी आये हुए थे। वहाँ द्विवेदीजी के किसी प्रश्न के सिलसिले में महाराज ने अनेक सम्मानित विद्वानों की गोष्ठी में कहा था कि मुन्शीजी सत्य के लिये किसी की परवाह नहीं करते। कभी-कभी मुझसे इस तरह झगड़ पड़ते हैं कि मैं ही जानता हूँ।

साहित्य की अपेक्षा मनुष्य अपने निजी जीवन में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। मुन्शीजी के संसर्ग में थोड़ी देर के लिये भी जो व्यक्ति आया, वह उन्हें फिर कभी नहीं भूला। दो-चार बातें करके ही वे सब किसी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे।

मुन्शीजी जन्म से मुसलमान होकर भी संस्कारतः वैष्णव थे। प्रायः लोगों को विश्वास न होता था कि वे मुसलमान हैं। हिंदू-धर्म में उनकी आस्था ऐसी ही अटल थी।

भक्ति-रस की कविता से तुरंत ही उन्हें अश्रुपात होने लगता था। भैया उन्हें कोई रचना सुना रहे हैं और उनकी आँखों से अजस्र आँसुओं

की धारा बह रही है। ऐसी स्थिति में अनेक बार ऐसा हुआ है कि कविता की अपेक्षा मेरा हृदय उनके आँसुओं से अधिक द्रवित हुआ। मुझे बार-बार इसका अनुभव हुआ है कि मुन्शीजी जैसा सरस कोमल हृदय कहीं मुझे भी मिला होता।

बहुत दिन पहले एक बार मुन्शीजी को कोई रोग हुआ। रोग कदाचित् रक्त-संबंधी था। उससे उन्हें बहुत चिंता हुई। उस समय उन्होंने नियम किया कि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक मंदिर में जाकर कीर्त्तन करेंगे। थोड़े ही दिनों में उनका रोग अपने आप दूर हो गया। उनकी श्रद्धा ऐसी ही अटल थी। उनका विश्वास था कि शुद्ध मन से जब कभी वे प्रार्थना करेंगे, वह निश्चय ही पूरी होगी। एक बार उनका एक कृपापात्र किसी अभियोग में गिरफ्तार हो गया। तुरंत मंदिर में जाकर उन्होंने साश्रु-वदन प्रार्थना की। मंदिर से बाहर आकर उनका जी हल्का हो गया। मित्र की विपत्ति की ओर से उनको किसी तरह की शंका न रही। बाद में एक दूसरे व्यक्ति ने उन्हें सुझाया कि तुमने एक जान के लिये तो प्रार्थना की है; किंतु उस अभियोग में एक अन्य जन भी पकड़ा हुआ है। उसके लिये भी प्रार्थना करो। मुंशीजी फिर मंदिर पहुँचे। परंतु उन्हें अनुभव हुआ कि यह दूसरा व्यक्ति नहीं छूटेगा। इसे छूटना होता तो पहली बार ही मैं क्यों भूल जाता! अंत में हुआ भी ऐसा ही। पहलेवाला व्यक्ति निर्दोष होकर छूट गया। दूसरे को सजा हुई।

हिंदुत्व का प्रभाव उनपर इतना गहरा था कि कभी-कभी वह मुझे अरुचिकर हो उठता था। खान-पान में छुआछूत का विचार कुछ कड़ाई से करते थे। कई बार मुझे यह शिकायत हुई है कि आपने तो हिंदुओं के दुर्गुण भी अपना लिये।

इतने अधिक वैष्णव भावापन्न होकर भी वे संकीर्ण न थे। प्रायः देखा है कि पैगंबर साहब की स्तुति में उर्दू की एक कविता गाते-गाते

वे आत्म-विस्मृत हो उठे हैं। असंभव नहीं है कि पैगंबर साहब की प्रशंसा में भी वे अपने उपास्य राम और कृष्ण की ही झलक देखते हों। उनके मन में अटूट श्रद्धा और अपार भक्ति थी और प्रधान वस्तु भी यही।

हिंदू-संगठन के सिलसिले में लोगों ने कहा—मुन्शीजी, आप शुद्ध होकर हिंदू हो जाइये। विचारों से आप हिंदू हैं ही। उन्होंने उत्तर दिया—ऐसा मुझमें अशुद्ध क्या है, जो मैं शुद्धि कराने जाऊँ। संभवतः वे यह अनुभव करते थे कि हिंदुओं में उस बल की कमी पड़ गयी है, जिसके कारण उनके बीच में अपने ही अपने बनकर नहीं रह पाते।

मुन्शीजी में आत्माभिमान था और कम भी नहीं था, फिर भी वह उस सीमा तक नहीं पहुँचा था जहाँ पहुँचकर वह अहंकार में बदल जाता है।

बड़े-बड़े विद्वान् और महापुरुष उनके गुण का आदर करते थे। राजा-महाराजाओं में उनका सम्मान था, फिर भी छोटे कहे जानेवाले व्यक्ति के पास बैठकर उसे संतुष्ट करने में भी उनके जी को बहुत सुख मिलता था। प्रायः ऐसा हुआ करता था कि घर से कहीं दूसरी जगह के लिये निकले हैं, और बीच में ही किसी बढ़ई, लुहार या दर्जी के यहाँ जाकर जम गये। घंटों उन लोगों का मनोरंजन करके ही तब कहीं वहाँ से उठते थे। ऐसे में प्रायः उन्हें अपने प्रधान कार्य्य की सुध भी भूल जाया करती थी। उनका यह गुण इतना अधिक था कि कभी-कभी इसे दोष कहने की इच्छा होती है। यदि उन्हें समय का ध्यान होता तो वे जितना साहित्यिक कार्य कर गये हैं उससे बहुत अधिक कर गये होते। कहीं बैठे हैं तो बैठे ही हैं। रात में सोते बहुत देर से थे। रात के एक-दो बजा देना तो उनके लिये आसान बात थी।

कभी-कभी घड़ी देखकर कहने लगते—यह गलत हो गयी है। अभी इतना समय नहीं हुआ। ऐसे अवसरों पर मैं हँस उठता था। परंतु अब ध्यान में आता है कि कभी-कभी घड़ी भी गलत समय दे जाती है।

क्या अभी इतना समय हो गया था कि मुन्शीजी जमी हुई गोष्ठी सूनी करके उठ जाते ! उनका शरीर कुछ दिन से अस्वस्थ प्रतीत होता था। नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी में 'सूर-सागर' का संपादन करते समय उन्हें ज्वर और खाँसी की शिकायत हो गयी थी। वहाँ का परिश्रम और हवा-पानी उन्हें सहन नहीं हो रहा था। फिर भी वे चाहते थे कि जो काम हाथ में लिया है वह अधूरा न छूटना चाहिये। परंतु वहाँ कुछ ऐसी बातें सामने आयीं कि उन्होंने त्याग-पत्र दे देना ही उचित समझा। वहाँ से लौटकर जब वे घर आये तो हम सब लोगों को बहुत चिंता हुई। मैंने कहा—जिनके असद्व्यवहार के कारण आपको त्याग-पत्र देना पड़ा है, उन्होंने हमारे साथ यह बहुत बड़ा उपकार ही किया। आज भी मेरा वही विश्वास है। उस समय उन्हें जो ज्वर बस गया था वह बहुत दिनों में सुयोग्य चिकित्सकों की चिकित्सा से दूर हो सका था।

उन्हें स्वस्थ देखकर आशा हो चली थी कि संकट टल गया। उनके पिता का देहावसान चौहत्तर-पचहत्तर बरस की अवस्था में हुआ था। इसलिए हाल में तो किसी तरह की आशंका ही न थी। मुन्शीजी इस समय पचपन वर्ष के ही थे। परंतु होना तो यह था। आजीवन उन्होंने हँसाया था। वही इस तरह रुलाते भी नहीं तो और कौन रुलाता !

न जाने कितनी बातें मन की मन में रह गयीं। न जाने कितनी आकांक्षाएँ और थीं जो पूर्ण न हो सकीं, जहाँ की तहाँ ही मुर्झा गयी हैं।

बहुत बचपन से उनकी मनोहर कहानियाँ सुनता आ रहा हूँ। बचपन में भी कहानी सुनने के लिये उन्हें बहुत घेरा है, और आज भी बच्चों को सह देकर इसके लिये सबके आगे ही जमकर बैठा हूँ। इधर मैंने कुछ कहानियाँ लिखने का लोभ किया था। जब 'अन्तिम आकांक्षा' नामक उपन्यास लिखा, तब इच्छा थी, उन्हें भेंट करके उसमें लिखूँ कि सदैव आपसे ही कहानी सुनता आ रहा हूँ, आज की मेरी यह धृष्टता क्षमा करो। किंतु, उस समय वैसा न कर पाया; इच्छा रखकर भी न कर

पाया। न जाने क्यों मुझे यह विश्वास हुआ कि यह रचना उन्हें पसंद नहीं होगी। बाद में स्वयं पढ़कर जब उसके लिये उन्होंने मुझे अत्यंत प्रोत्साहित किया, तब अपनी भ्रांत-धारणा के लिये खेद करके ही रह जाना पड़ा। सोचा, अब अपने अगले उपन्यास में ही यह इच्छा पूरी होगी। इधर मैं एक उपन्यास लिख भी रहा था। थोड़ा ही लिखने के लिये और बाकी था कि भाई जैनेन्द्रकुमार अचानक यहाँ आ गये। उन्होंने उसे उतना ही देख डाला। तब मैंने यह उचित समझा कि इतना ही मुंशीजी को भी दिखा दूँ। मुंशीजी ने भी तब मेरी वह अधूरी हस्तलिपि प्रसन्नता-पूर्वक पढ़ डाली। सोचा अबकी बार अपनी वह वांछित धृष्टता मैं सन्तोष के साथ पूरी कर सकूँगा। उस समय क्या जानता था कि अदृष्ट में कुछ दूसरी बात है। उस समय भी उनके शरीर पर वे फोड़े मौजूद थे; जिनमें से एक ने विषाक्त होकर ठीक पखवारे के भीतर ही उनको हमारे बीच से छीन लिया।

मृत्यु के एक दिन पहले जब उन्हें कुछ-कुछ बेहोशी आ चली थी, तब उन्होंने मुझसे पूछा—उपन्यास कितना और लिख चुके? मुझे लज्जा मालूम हुई। उनकी तबीयत खराब हो रही हो और मैं निश्चिंत होकर लिखता रहूँ, यह मेरे लिये लज्जा की ही बात थी। मृत्यु के आठ घंटे पहले उनके लिये जब झाँसी से फिर डाक्टर आया और मैं भी उनके सामने हुआ, तब वे बहुत कम सचेत थे। फिर भी उन्होंने मुझसे यही प्रश्न किया—क्या इस समय लिख रहे थे? यही अंतिम बात थी, जो उन्होंने ज्ञानतः मुझसे कही। अवस्था चिन्ताजनक होने पर भी किसी को भान तक न था कि आज की ही रात ऐसी भयंकर निकलेगी, जिसका आघात जीवन भर सहना होगा!

उस दिन की बात भुलाये नहीं भूलती। इसी ज्येष्ठ की पहली प्रतिपदा का प्रातःकाल था। गाँव भर में एक साथ बिजली-सी गिरी कि रात में मुंशीजी का देहांत हो गया है। क्या मुंशीजी का देहांत हो गया?

सहसा, आँखों में आँसू भी न आ सके। एकाएक यह हुआ क्या! कल संध्या समय ही तो झाँसी के एक कुशल डाक्टर पूर्ण निश्चिंत रहने का आश्वासन दे गये थे। किंतु, डाक्टर के ही कहने से क्या, आघात इतना कठोर था कि पहले से उसकी कल्पना भी असह्य थी। न रोना आया, न चिल्लाना। जैसे किसी ने सारी बोध-शक्ति छीन ली हो।

मुंशीजी से ही सुना है। एक कहानी कहनेवाला जहाँ देखता कि सुननेवाले एकाग्र हो गये हैं, सभी में आगे के लिये तीव्रतर उत्सुकता है, बस वहीं वह एकदम रुक जाता था।

असमाप्त होने पर भी अपनी कहानी वहीं समाप्त करने में उसे विशेष प्रसन्नता होती थी। मुंशीजी को यह ढंग पसन्द न था। पूरे विस्तार के साथ यथार्थ अन्त तक पहुँचकर भी "और-और, फिर-फिर" का समाधान करने की विश्वस्त शक्ति उनमें थी। परंतु आज यह क्या बात हुई? कैसे उनके जीवन की ऐसी बड़ी कहानी असमय ही इस प्रकार समाप्त हो गयी?

भैया ने आज्ञा की—चलो मुंशीजी को कबरिस्तान तक और पहुँचा आवें।

मुंशीजी के घर पहुँचकर मैं भी अपने रुद्ध आँसू न रोक सका। स्त्रियों के क्रन्दन की ध्वनि दूर से ही सुनाई दे रही थी। लोग हृदय पर पत्थर-सा रक्खे चुपचाप इधर-उधर आ-जाकर तैयारी कर रहे थे, जिसमें कोई विलंब न हो। जो व्यक्ति सम्पूर्ण मोह-ममता छोड़ चुका है, वह फिर हमारे किस काम का? उसे तो शीघ्र से शीघ्र उसके असली ठौर पर पहुँचा देना चाहिये। बात कुछ बुरी थोड़ी है!

द्वार तक पहुँचकर भी भीतर न जा सका। मन एकदम इनकार ही कर बैठा। आजीवन मुंशीजी को जिस रूप में देखा है, मन के भीतर वही रूप क्यों न अंकित रहने दूँ? आज के इस दर्शन की आवश्यकता ही क्या है?

भैया भी चुपचाप बाहर के ही चबूतरे पर नीचे पैर लटकाकर बैठ गये थे। रात को मुंशीजी की मृत्यु के दस-बीस मिनट पहले वे वहाँ से हट आये थे, इसलिये किसी व्यक्ति ने बताया कि मरने के कुछ पहले मुंशीजी ने बड़े जोर से कहा था—'मैथिलीशरण ! मैथिलीशरण !' न जाने, वह जानेवाली आत्मा उस समय क्या सोच रही थी ; न जाने कौन-सी बात, न जाने कौन-सा रहस्य कहने के लिये उसके भीतर ही रह गया, निर्मम मृत्यु ने उसे प्रकट नहीं होने दिया।

देखता हूँ, मुन्शीजी का कनिष्ठ पुत्र आकर सहसा भैया के पैरों से चिपट गया है। रोते-रोते उसने कहा—'क्या करूँ दद्दा, क्या करूँ ? कैसे सहूँ। मेरी तो छाती फटी जा रही है।' लोगों ने देखा, भैया का धीरज भी उनका साथ नहीं दे रहा है। उन्होंने कहा--'भैया धीरज धर, हिम्मत नहीं खोना चाहिये।' धीरज खोना तो नहीं चाहिये, परंतु ऐसे जन से किसी को क्या धीरज मिल सकता है, जिसका कंठ अपने ही आपे में न हो, जिसकी आँखें स्वयं ही आँसू बरसा रही हों !

मुन्शीजी के तीन पुत्र हैं। तीनों ही पूर्ण वयस्क। ज्येष्ठ पुत्र ऐसा हो गया था, जैसे कोई बात उसके कान में ही न जाती हो। मध्यम को इधर-उधर के काम में योग देना पड़ रहा था। योग देने की एक ऐसी भी असहायता होती है। कनिष्ठ की हालत वैसी ही थी। विचित्र विक्षिप्तता थी। तीनों के तीनों जैसे एक ही शोक के तीन विभिन्न चित्र हों। सोचा, यहाँ से हटकर मुन्शीजी के ही दर्शन क्यों न कर लूँ। यह दर्शन शिष्टाचार का दर्शन नहीं—सचमुच दर्शन ही था।

भीतर जाकर झुककर प्रणाम किया, पैर छुए, परंतु उनके मुख की ओर न देख सका। किसी तरह वहाँ आँखें ठहरीं ही नहीं। इसी समय देखा, बड़ी लड़की अंतिम दर्शन की बात सुनकर बेहोश हो गयी है।

अर्थी उठी। बहुत बड़ी संख्या में हिंदू और मुसलमान सब के सब शोकमग्न, सिर झुकाये हुए, चुपचाप ! यह मौन है किस लिये ? क्यों

नहीं आज झालें और घण्टे बजते हैं, क्यों नहीं आज शंख अपना विजय-घोष कर उठता है।

आज एक शुद्धात्मा हँसता-हँसता अपनी इहलीला पूरी करके उस लोक को जा रहा है। ऐसे में भी मंगल-घोष न होगा तो और होगा कब! परंतु मुसलमानी धर्म में यह सब अशास्त्रीय है। हाँ, शोक-विधि शोक के साथ ही हो। जानेवाली आत्मा को अब इन बातों से कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

अर्थी उस घर के फाटक के सामने पहुँची, जिसकी ओर से मुँह फेरकर मुन्शीजी कभी नहीं गये; जिसके भीतर जाने के लिये मुन्शीजी को आँधी में, पानी में, उजले दिन में और अंधेरी रात में कभी समय-असमय नहीं था। वह फाटक जिसमें आज इनके चले जाने पर भी प्रायः मुझे अनुभव होता है कि अपना ऊँचा बल्लम लिये, खादी के कुर्ते पर खादी का ही साफा बांधे हुए वे प्रवेश कर रहे हैं और थोड़ी देर में ही हँसते-हँसते हमलोगों के सामने बल्लम टेककर आ खड़े होंगे। वह फाटक भी पीछे छूटा। वहाँ एक बालक अर्थी देखकर इतना विकल हो उठा कि उसे संभालना कठिन था। रो ले भाई, तू भी रो ले! उस सुखद गोद में तू हँसा खेला भी तो कम नहीं है।

कब्रिस्तान में उसी जगह से मिली हुई कब्र खोदी गयी थी, जहाँ बीस-बाईस वर्ष पहिले मुंशीजी हमारी भाभी को सुला आये थे। पत्नी की बगल में आज निस्संकोच सो सकने के लिये ही मुन्शीजी ने दुबारा विवाह नहीं किया था। वहाँ खादी की शुभ्र चादर पर वे लिटा दिये गये थे।

भैया जनकपुर और अयोध्या की तीर्थ-मृत्तिका, रेणुका और गंगाजल साथ ले गये थे। उसे चढ़ाने के लिये मुसलमान भाइयों ने एतराज नहीं उठाया। भैया ने उसे मुझे सौंपते हुए कहा—लो चढ़ा आओ। मैंने यन्त्र-चालित की माफिक सब काम कर दिया।

भैया भी मिट्टी देकर आये और उन्होंने कहा—'देखा तुमने अजमेरीजी की ओर ? जैसे उन्होंने इस ओर से, इस लोक से, दृष्टि फेर ली हो। कहीं दूसरी ओर उनका ध्यान चला गया है। शान्त, गंभीर किंतु कितनी आत्म-गौरव-मंडित वह आकृति है ! यहाँ उस मूर्ति को जैसे अब कोई आयोजन नहीं रहा।'

ग्रीष्म की लू प्रखर हो रही थी। वृक्ष सरसराहट के साथ साँ-साँ करते दिखाई दिये। इधर यह दूर तक फैली हुई पक्की सड़क सूनी-सी दिखाई दे रही है, उसके बाद वह कुआँ, फिर वे वृक्ष, उनके भी बाद, आकाश में धुली-मिली दूर की पहाड़ियों की वह नीलिमा। कहीं कुछ नहीं। इतने अधिक जन-समूह के साथ भी मानों हम सब लोग अकेले पड़ गये हैं। मुन्शीजी को मानों मिट्टी के नीचे छिपाकर हम सबलोग लौट पड़े।

सत्य अपने स्वाभाविक रूप में ही कितना मनोहर हो सकता है, यह बात मुन्शीजी से समझना चाहिये, ऐसा ही कुछ श्रद्धेय भाई साहब राय कृष्णदासजी ने एक बार मुंशीजी के संबंध में लिखा था। सत्य सदैव मनोहर ही नहीं, वह भयंकर कठोर भी है। आज के दिन यह भी मुंशीजी ने ही प्रकट कर दिया !

—सियारामशरण गुप्त

लाला भगवानदीन

"ऐं ! यही लालाजी हैं ?" मैंने निराशा और आश्चर्य-भरे शब्दों में एक मित्र से पूछा ।

जुलाई सन् '२४ की बात है । हिंदी के महारथियों का नाम सुनकर ही मैंने हिंदू-विश्वविद्यालय में नाम लिखाया था—कालिज में पढ़ने और बड़े-बड़े लोगों के संग में रहने का उल्लास था और सबसे अधिक उल्लास था एक ही स्थान पर हिंदी के इतने बड़े-बड़े विद्वानों के पुण्य दर्शन का। सबसे प्रथम मैंने आचार्य ध्रुव के दर्शन किये, उनके चरण छूकर आशीर्वाद माँगा। देहात से आये हुए एक श्रद्धालु शिष्य की ओर उन्होंने एक बार स्निग्ध दृष्टि से देखा और मुस्कराये। फिर सामने रक्खे हुए कागजों में डूब गये । आचार्य के दर्शन कर मैंने अपने को धन्य माना ! भारतीय संस्कृति, भारतीय वेष-भूषा की वह सौम्य मूर्ति !

आचार्य के कमरे के बाद रजिस्ट्रार का आफिस, और फिर कालिज के क्लर्कों का आफिस। टाइप-राइटरों की खटखटाहट, नाम लिखाने-वाले झुंड के झुंड विद्यार्थियों का रेल-पेल ! दम घुटने लगता था इस भीड़ को पार करने में। वहाँ से निकलकर आगे बढ़ने पर हिंदी-विभाग

के प्रोफेसरों का कमरा है। बाहर से मैंने झाँका, डरते हुए, सकुचाते हुए, भय खाते हुए। प्रोफेसर हैं, प्रोफेसर, न मालूम मुझसे कहीं कोई अशिष्टता हो जाय और वे बिगड़ उठें। फिर भी मन में उन विभूतियों के दर्शन की तीव्र लालसा थी। बरामदे में खड़ा-खड़ा मैं प्रतीक्षा करता रहा।

फिर क्या था। अमल धवल पगड़ी बाँधे, काली शेरवानी और सफेद पाजामा पहने श्रीहरिऔधजी, अँगरेजी और भारतीय वेश-भूषा का सुरुचि-पूर्ण समन्वय करते हुए श्री शुक्लजी पूरे अँगरेजी लिबास में, बाबू साहब (डा० श्यामसुन्दर दास) सबके एक-एक कर दर्शन हुए। उस समय हृदय में कैसी लहरें उठ रही थीं; आज पंद्रह वर्ष बाद उन्हें अंकित करना कठिन है। परंतु, यह स्मरण है कि मैं उन्हें उसी भाव से देख रहा था जैसे गँवई का आया हुआ किसान एकाएक गाँधीजी को देखे।

"ऐं! यही लालाजी हैं?" मैंने निराशा और विस्मय के साथ अपने एक मित्र से पूछा। क्या देखता हूँ कि एक दुबला-पतला छोटे कद का आदमी जिसके चेहरे की हड्डियाँ उभर आयी हैं, आँखें धँस गयी हैं और उन धँसी हुई आँखों पर निकेल के फ्रेम का मोटा चश्मा लगा हुआ है, हाथ में रजिस्टर लिये कमरे से बाहर निकलकर क्लास लेने जा रहा है। फिर मैंने जरा गौर से देखा इस जीर्ण-सी काया को। महा आकर्षण-हीन व्यक्तित्व। कपड़े-लत्ते में भी कोई सलीका नहीं, कोई ढंग नहीं, कोई पसंद नहीं; जो मिला, जैसा मिला, पहन लिया—शरीर ढकने भर के लिये। बहुत मामूली सफेद गाढ़े का मुहरीदार पाजामा, वैसा ही मामूली बंदगले का कोट, पैर में कैनवस का फुल शू, जिसकी हफ्तों से सफेदी नहीं हुई है, फीते अस्त-व्यस्त ढीले-ढाले, सिर पर पुराने ढंग की फेल्ट कैप। चाल में एक अजीब तरह की मंदता।

यही लालाजी हैं! 'वीर पञ्चरत्न' का यही कवि है! स्कूल में पढ़ते समय जिस व्यक्ति को मैं इतने भक्ति-भाव से देखता था, वह व्यक्ति यही है? क्या सचमुच इन्हीं की लेखनी का वह प्रसाद था!

सब वीर किया करते हैं सम्मान कलम का,
वीरों का सुयश गान है, अभिमान कलम का।

लालाजी के नाम से भारतवर्ष में एक ही साथ दो व्यक्ति प्रख्यात हुए—एक साहित्य के क्षेत्र में, दूसरे राजनीति के क्षेत्र में—एक लाला भगवानदीन, दूसरे लाला लाजपतराय। छोटे मुँह बड़ी बात है, परंतु मुझे ऐसा ही लगता है कि राजनीति के क्षेत्र में जो स्थान लाला लाजपतराय का था, साहित्य-क्षेत्र में वही स्थान लाला भगवानदीन का था। एक राष्ट्र-केसरी थे, दूसरे साहित्य-केसरी। दोनों की दहाड़ आज भी अपने-अपने क्षेत्र में गूँज रही है।

हिंदी के प्रति मोह और आकर्षण होने के कारण ही मैं हिंदू-विश्व-विद्यालय में आया और यहाँ अपने ऐच्छिक विषयों में हिंदी लेने पर मुझे अपने अध्यापकों के अधिकाधिक निकट संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शुक्लजी की गंभीर-मुद्रा से भय मालूम पड़ता था, इस कारण कई वर्ष तक उनसे व्यक्तिगत परिचय करने का साहस नहीं हुआ। स्वभाव का मैं था भी झेंपू, और इस कारण भी बहुत परिचय से जी भागता-सा था। क्या पूछूँगा, क्या कहूँगा, वे कुछ पूछ बैठें तो क्या उत्तर दूँगा आदि—ऐसे बहाने बनाकर मैं अपने मन को चुपचाप समझा लेता था। एफ़० ए० के लड़के प्रायः 'Fools' (मूर्ख) नाम से संबोधित किये जाते हैं और हर बात में उनकी अभद्रता की ओर उँगली उठा करती है। जमात बाँधकर, हल्ला करते हुए, जूते बजाते हुए एक रूम से दूसरे रूम में जाना, आगे की सीटों के लिये बुरी तरह दौड़ना और फिर स्कूली आदत के मुताबिक प्रोफेसरों को बीच-बीच में छेड़ना। बेचारे प्रोफेसर एक बार नाक-भौं सिकोड़ते—'कैसे गधों से पाला पड़ा है।' फिर स्वयं सोचते—आखिर ये हैं भी तो First year fools; इसलिये जरा-सी-मुसकान के साथ अपनी कही हुई बात को दुहराते।

ऐसी विषम अवस्था में मैंने पहले दिन लालाजी को क्लास में पाया। लालाजी हमें हरिऔध-संकलित 'कबीर रचनावाली' पढ़ा रहे थे। आरम्भ में था सृष्टि-प्रकरण। यह सृष्टि कैसे हुई और कहाँ जा रही है। यह सवाल यों ही इतना पेचीदा है कि बड़े-बड़े दार्शनिकों के छक्के छूटने लगते हैं और ललाट पर पसीना आने लगता है। फिर उस सृष्टि-क्रम की कोई व्याख्या हो—कोई शास्त्रीय विवरण हो-तो कुछ समझा–समझाया भी जाय। कबीर का सृष्टि-क्रम कबीर की वाणी की तरह ही अटपटा है। वहाँ तो एक-अनेक की अजीब आँख-मिचौनी है। लालाजी पढ़ा रहे थे। लगे इसी सिलसिले में सांख्य का सृष्टि-क्रम समझाने और फिर उसका और कबीर के मत का मिलान करने। कहीं किसी बात में भी मेल नहीं। इस प्रकार कबीर का सृष्टि-क्रम तो उलझ ही गया, सांख्य-भाष्य भी यों का यों ही धरा रह गया। एक साथ ही क्लास में हल्ला हो गया—"'लालाजी' 'लालाजी' आप क्या समझा गये ? खाक भी समझ में नहीं आया।" लालाजी अपनी ओर से उत्तर देने के लिए तैयार थे, परंतु उस दिन कुछ ऐसी गड़बड़ मची कि वे समझा नहीं सके। कुछ खिन्न, कुछ क्षुब्ध, वे क्लास से बाहर निकले।

दूसरे दिन क्या देखते हैं कि लालाजी की जगह पर हरिऔधजी कबीर का सृष्टि-क्रम पढ़ाने क्लास में आ गये हैं। यह हरिऔधजी का ही संकलन था। और उन्होंने कुछ विस्तार से संतमत-निरूपण तथा संतमत के अनुसार सृष्टि-क्रम का विवेचन किया। फर्स्ट इयर के मूर्खों को सृष्टि का क्रम तो क्या समझ में आता; हाँ, उन्हें इस बात से तसल्ली हो गयी कि लालाजी ने अपनी हार स्वीकार कर ली।

लालाजी की इस हार को मैंने उनकी सबसे बड़ी जीत समझा। कितनी सच्चाई, कितनी ईमानदारी, अपने सम्बन्ध में कितनी सरलता और कितनी सादगी ! लालाजी ने उसके बाद स्वयं स्वीकार कर लिया कि भाई, संतों की सारी बातें कुछ उनकी अपनी होती हैं और उन्हें

समझना-समझाना आसान नहीं है। इसलिये मैंने यह ठीक समझा कि हरिऔधजी ही आप लोगों को समझा दें। इसके बाद लालाजी के क्लास में ऐसी घटना की पुनरावृत्ति नहीं होने पायी। लालाजी खूब तैयार होकर आते थे और वे संस्कृत की कमी फारसी से पूरी कर देते थे। 'टीचर' के रूप में लालाजी एक ही थे। क्लास में वे कभी कुर्सी पर नहीं बैठते थे, या तो खड़े रहेंगे, या टेबुल पर बैठेंगे। वृद्धावस्था के कारण खड़े-खड़े जब वे थक जाते तो टेबुल पर बैठ जाते थे। खूब जोर से और बहुत स्पष्ट बोलते थे। जिसमें एफ० ए० के हम ढाई-तीन सौ विद्यार्थी खूब मजे में सुनते जाते और नोट करते जाते थे।

लालाजी की सादगी और बे-तकल्लुफी को देखकर मैं मुग्ध हो गया। उन्हें आजकल के प्रोफेसरों की तरह अपनी 'सर्वज्ञता' अथवा 'बहुज्ञता' का अभिमान नहीं था। वे इस बहुज्ञता को बहुत अच्छी बात भी नहीं मानते थे। वे लेक्चर देने की अपेक्षा ग्रन्थ का अध्ययन तथा प्रासंगिक विषयों की चर्चा बहुत पसंद करते थे। ग्रन्थों के संबंध में आजकल कालिजों में एक भ्रम काम कर रहा है। अधिकांश प्रोफेसरों ने लेक्चर दे देना ही अपना परम कर्त्तव्य समझ रक्खा है। इस विषय की किताबों से उन्हें गर्ज नहीं। पंत की काव्य-सुषमा पर व्याख्यान सुन लेना और बात है, और पंत के 'गुंजन', 'पल्लव', 'वीणा' आदि का मर्म जानना और। प्रायः प्रोफेसर व्याख्यानों के द्वारा ही, जो देने और सुनने दोनों में ही सुखकर है, अपने को संतुष्ट कर लेते हैं तथा विद्यार्थी भी व्याख्यान को ही कालिज की शिक्षा का परम प्रसाद मानते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रायः अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों में ही ग्रन्थों की ओर से गहरा अज्ञान बना रहता है। विश्वविद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थियों से आप छायावाद, रहस्यवाद, आदि वादों पर चाहे जितना सुन लीजिये ; परंतु उनसे पूछिये कि इन विषयों के मौलिक ग्रन्थ आपने कौन-कौन-से पढ़े हैं तो उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। प्रायः

विद्यार्थी आजकल दूसरों की लिखी हुई तद्विषयक आलोचनाओं से ही काम चला लेते हैं। हर विषय की यही बात है। ग्रन्थ आले में ही पड़े रह जाते हैं—यहाँ-वहाँ की थर्ड क्लास आलोचनाएँ पढ़ लीं और काम चला लिया। इस 'काम चलाऊ' शिक्षा का छकड़ा कब तक चलता रहेगा? अध्यापक और विद्यार्थी कब तक अपने को धोखे में रक्खेंगे?

लालाजी की पढ़ाने की शैली अपनी खास थी, एक-एक शब्द पर पूरा-पूरा विचार, उसकी उत्पत्ति और गति आदि का पूरा-पूरा ऊहापोह। फ़ारसी और अरबी के शब्दों की जहाँ व्युत्पत्ति आती अथवा ग्रन्थ में आये हुए किसी पद का फ़ारसी की कविता से मुकाबला करना होता वहाँ लालाजी का हृदय नाच उठता। अब तक लालाजी से पढ़े हुए मेरे अनेक काव्य-ग्रंथों में फ़ारसी-अरबी के कितने ही शेर लिखे हुए हैं, और उन्हें आज पढ़ता हूँ तो लालाजी की स्मृति सजीव हो उठती है।

हर बात में लालाजी की अपनी ही कार्य-शैली थी। वे बँधी-बँधाई परिपाटी पर चलने के हामी नहीं थे। हमारे क्लास में रजिस्टरों में विद्यार्थियों के नाम अँगरेजी में छपे होने के कारण अँगरेजी वर्णमाला के अनुसार जमाये हुए थे। लालाजी को यह कतई पसंद न था। वे हर महीने उन अँगरेजी में छपे हुए नामों को काटकर हिंदी में सुपुष्ट सुंदर अक्षरों में अकारादि से जमाते। ऐसा करने में उनका बहुत समय लगता, परंतु किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। इस कारण आफ़िस के क्लर्कों को 'परसेन्टेज' जोड़ने में काफी दिक्कत और परेशानी होती। परंतु वे करते क्या? लालाजी के अक्षर बहुत ही पुष्ट, सुंदर और सुघर थे। वह बड़ी सफाई के साथ जमा कर लिखते। कई बार हमलोगों ने आग्रह किया कि दीजिये हमलोग लिख दें। परंतु वे हमलोगों के अक्षरों से संतुष्ट नहीं होते। उनको इस काम में बहुत सुख मिलता और इसे वे बहुत उत्साह एवं उल्लास के साथ करते।

लालाजी जीवन तथा जगत में रस लेनेवाले एक बहुत ही

जिंदादिल तरुण वृद्ध थे। यह मैंने तब जाना जब लालाजी हमें बिहारी के दोहे पढ़ाने लगे। बिहारी के दोहों में ही लालाजी खुले और इतने खुले कि कुछ पूछिए नहीं। शृंगार की तो वह मूर्ति ही थे। उसमें भी विप्रलम्भ की अपेक्षा संयोग-शृंगार की बहुत सूक्ष्म बातों की ओर, जहाँ किसी सहृदय व्यक्ति की ही पैठ हो सकती है, लालाजी बड़े ढंग से समूचे क्लास का ध्यान खींच ले जाते। अलंकार तथा नायिका-भेद लालाजी के सर्वथा अपने विषय थे और हिंदी में इस विषय का उनकी जोड़ का और भी कोई मर्मज्ञ हुआ, कहना कठिन है। 'बिहारी सतसई' पढ़ाते समय लालाजी इतना रस बरसाते कि क्लास का क्लास उस आनंद-धारा में डूब जाता। वे रूप खड़ा कर देते। कभी-कभी विनोद और चुहल में कह उठते—"भाई, विज्ञान के सभी विषयों में Practical Experiments के लिये Laboratories बनी हुई हैं, परंतु आर्ट्स-सेक्शन में नायिका-भेद के ज्ञान के लिये कोई भी प्रबंध नहीं है। कोई किताबी ज्ञान से कोई नायिका-भेद खाक सीख सकता है? नायिका-भेद के व्यावहारिक ज्ञान के लिए तो बहुत खाक छाननी पड़ती है।"

लालाजी के कुछ खास Favourite authors थे। केशव और बिहारी पर लालाजी का अपूर्व अधिकार था। इस क्षेत्र में मिश्र-बंधुओं के साथ उनका जो साहित्यिक दंगल हुआ, वह हिंदी-साहित्य में चिर-स्मरणीय घटना है, 'अनस्थिरता' को लेकर उन्होंने स्वर्गीय श्री आचार्य द्विवेदीजी तक पर रहम नहीं किया। वे किसी की भी गलती को मुआफ नहीं कर सकते थे। गलती करनेवाले चाहे आचार्य द्विवेदीजी हों या बाबू श्याम-सुन्दर दास या मिश्रबंधु। वे व्यक्तित्व के आतंक में आनेवाले जीव नहीं थे। लालाजी जब तक रहे, बड़ी शानोशौकत से रहे। योग्यता और विद्वत्ता का वे हृदय से आदर करते थे, परंतु किसी के झूठे रोब में आना उन्होंने सीखा ही नहीं था। शुक्लजी को वे हिंदी-साहित्य का मुकुटमणि मानते थे और उनकी विद्वत्ता के सामने श्रद्धा और आदर से सिर झुकाते थे।

लालाजी का एक और भी रूप था, और वही उनका सही और सच्चा रूप था। प्रातःकाल मैं उन्हें बगल में धोती और कुशासन दावे, नंगे सिर, नंगे पैर, हाथ में जलपात्र लिये स्नानार्थ दशाश्वमेध-घाट जाते देखा करता था। घाट से लौटते हुए लालाजी के ललाट पर केसर-मिश्रत चन्दन तथा कुंकुम की बिन्दी बहुत ही शोभा देती थी। क्लास में भी प्रायः उनके चंदन-चर्चित मुखमंडल के दर्शन होते। कितना भव्य था वेश ! क्लास में प्रवेश करते ही वे एक बार प्रेमपूर्वक सबका मौन नमस्कार स्वीकार करते और 'जयशंकर' कहते। लालाजी औढरदानी भगवान विश्वनाथ के अनन्य उपासक थे। यही उनके जीवन का वास्तविक और आंतरिक रूप था। कितना प्रिय ! कितना मधुर !

लालाजी ने गरीबों में ही अपना जीवन बिता दिया। विश्वविद्यालय में भी उन्हें बरायनाम वेतन मिलता था। उन्हें इस बात का बड़ा क्षोभ था कि हिंदी के इतने बड़े हिमायती पूज्य मालवीयजी महाराज की छत्रछाया में भी हिंदी के अध्यापकों की यह दुर्दशा है। वे इसे हिंदी के प्रति अन्याय तथा अपमान समझते थे और कभी-कभी असह्य वेदना के कारण क्लास में भी वे अपने इस भाव को छिपा नहीं सकते थे। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था जैसे ज्वालामुखी फट पड़ा है और लावा निकल रहा है।

छायावाद के प्रति लालाजी के भाव उदार नहीं थे। वे इसे 'छोकरावाद' कहा करते थे और छायावादी कवियों को 'तुक्कड़' कहकर अपने जी की जलन मिटाने की चेष्टा करते थे। उन दिनों कलकत्ते के 'मतवाला' में लालाजी के किसी ग्रंथ के विरोध में भूदेव शर्मा ने काफी लम्बी लेख-माला लिखी थी। परंतु, लालाजी पर उन लेखों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने विश्वास में अडिग रहे। अंत समय तक लालाजी छायावाद के विरोधी ही रहे।

लालाजी का कविता सुनाने का ढंग भी मुन्शियाना था। उर्दू की बहर में तो आप लिखते ही थे, भाषा भी बड़ी चुहल-भरी, फड़कती हुई। बीच-बीच में 'मुकर्रर', 'इरशाद', 'वाह-वाह,' 'बलिहारी है' की ध्वनियों से इनका हौसला खूब बढ़ता। लालाजी थे बड़े ही रंगीन तबीयत के और इसीलिये प्रायः कवि-सम्मेलनों में 'रमा की मोटरकार' सुनाने का उन्हें बड़ा उत्साह रहता था। उक्त कविता में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिन्हें सुनने-समझने तथा रस लेने के लिये बहुत सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता नहीं। लालाजी की कविताओं का संग्रह 'नदी में दीन' छपा है। एक दिन क्लास में लालाजी पर खूब विनोद हुआ। लालाजी का पीरियड था, यह देख हमलोगों ने Mock show शुरू किया। कोई कह रहा है 'नदी में दीन' के माने हैं—नदी में दीन कवि बहे जा रहे हैं। कोई कह रहा है—दीन कवि नदी में नहा रहे हैं, कोई कह रहा है—नदी में स्नान करती हुई किसी नायिका को देखकर विहारी की तरह दीन कवि अपनी आँखों को, हृदय को जुड़ा रहे हैं। यह शास्त्रार्थ चल ही रहा था कि लालाजी ने क्लास में—'जयशंकर' कहते हुए प्रवेश किया और शास्त्रार्थ का कारण पूछा। जब उन्हें मालूम हुआ कि 'नदी में दीन' पर ही यह सारा तूमार बँध रहा है, तो बहुत ही सकुचाये। पीछे उन्होंने कहा—टाइप की भूल है, चाहिये था 'नदीम-ए-दीन'।

गर्मी की छुट्टियाँ हो रही थीं—हम सभी घर जाने को व्यग्र थे। अन्तिम दिन अस्त-व्यस्तता की दशा में ही लालाजी के क्लास में हमलोग मिले। लालाजी हममें से प्रत्येक का जिला और प्रांत पूछ रहे थे, और पूछ रहे थे कि तुम्हारे यहाँ क्या खास चीज होती है। कोई कह रहा था पत्थर की मूरत, कोई कह रहा था केवड़े का इत्र, कोई कह रहा था काँच के बर्तन, कोई कह रहा था मिट्टी की सुराहियाँ, कोई कह रहा था नीबू, कोई बेल, कोई नारियल, कोई मक्का के भुट्टे, कोई लस्सी। कोई अपने यहाँ की शीतलपाटियों की तारीफ कर रहा था, तो कोई अपने

यहाँ की जंगली छड़ियों की । लालाजी कह रहे थे कि जिसके यहाँ की जो खास चीज हो, उसका एक-एक नमूना जरूर साथ लेते आना। मेरे घर के एक कमरे में उनकी प्रदर्शनी होगी और यही मानूँगा, तुम लोगों की गुरु-दक्षिणा।

परंतु, गुरु-दक्षिणा की बारी नहीं आयी। छुट्टियाँ कुछ ही दिन बीत पायी थीं कि अखबारों ने लालाजी के निधन का दुःखद समाचार छापा। इसीको कहते हैं हरि-इच्छा।

—भुवनेश्वर मिश्र

पं० रामचंद्र शुक्ल

आज से प्रायः ५० वर्ष पहले की बात है। राठ (हमीरपुर) के एक साधारण-से मदरसे में एक दुबले-पतले साँवले रंग के सात साल के बालक को उर्दू-फारसी की शिक्षा मिल रही थी। उसके पिता राठ के सुपरवाइजर कानूनगो थे। ब्राह्मण होते हुए भी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी-शिक्षा-संपन्न किसी मौलवी से कम न थी। काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी के पायजामे, पट्टेदार बालों तथा अल्पाके की शेरवानी ही तक बात न थी। उनकी जबान भी 'सर सैयद' की जबान थी तथा उनके विचार उस समय के फारसी पढ़े-लिखे 'शिष्ट' कहलाने-वाले मुसलमानों से साधारण व्यवहार की बहुत-सी बातों में अधिकतर मिलते-जुलते थे। संस्कृत अथवा हिंदी बेहूदा जबान थी। धोती पहनकर बाहर निकलना या नंगे सिर रहना जुर्म था। उनके उन्नत सुव्यव-स्थित शरीर तथा स्वाभाविक रतनारे विशाल नेत्रों से उनके उच्च वंश का सहज आभास होता था। एंट्रेंस पास करके बस्ती जिले से वे राठ नौकरी पर आये थे। अवस्था २५-२६ वर्ष की थी। उनके साथ में उनकी धर्म-पत्नी, उनकी वृद्धा माता तथा दो छोटे-छोटे उनके लड़के थे। एक की अवस्था सात वर्ष की थी और दूसरा तीन वर्ष का दूध-

पीता बालक था। इस परिवार में वृद्धा माता का परम ऊर्ज स्थान था। वे रामभक्त थीं। नित्य बड़ी सुंदर रीति से वे तुलसी, केशव आदि के भजन गातीं तथा पूजा-पाठ में निमग्न रहतीं। उस समय आर्य-समाज का चारों तरफ प्रबल आंदोलन चल रहा था। स्वामी दयानंद के लेखों को राठ में भी कुछ लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और दूसरों को सुनाते थे। इस समाज ने बस्ती जिले के नवयुवक कानूनगो को भी अपने रंग में रँगा। आगे चलकर अवश्य यह रँग उड़ने लगा तथा अंत में कुछ दिनों उपरांत मिर्जापुर में जहाँ वे सदर कानूनगो के पद पर जीवन के अंतिम समय तक रहे, उसका कोई अंश शेष न रहा। किंतु, जब तक वे राठ रहे, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखायी पड़ा।

जिस क्षीण-गात सातवर्षीय बालक का उल्लेख आरंभ में किया गया है, वह हिंदी-साहित्य-संसार का वही परम देदीप्यमान सूर्य था जो अभी अस्त हुआ है—आचार्य रामचंद्र शुक्ल। पं० रामचंद्र शुक्ल के पूर्वज गोरखपुर जिले के भेड़ी नामक स्थान में रहते थे। उनके पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल का जिस समय देहांत हुआ था, उस समय पं० रामचंद्र शुक्ल के पिता पं० चंद्रवली शुक्ल की अवस्था चार-पाँच वर्ष की थी। उनकी माता (पं० रामचंद्र शुक्ल की दादी) उन्हें साथ लेकर बस्ती जिले के अगोना ग्राम में रहती थीं। जहाँ उनको 'नगर' के राज-परिवार की ओर से यथेष्ट भूमि मिली थी। पं० चंद्रवली की प्रारंभिक शिक्षा फारसी में नगर के मदरसे में (दो मील दूर) हुई थी। अगोना से वे नित्य नगर पढ़ने जाते थे। इसी अगोना ग्राम में संवत् १९४० में आश्विन-पूर्णिमा को पं० रामचंद्र शुक्ल का जन्म हुआ। इनकी माता गाना के एक पुनीत मिश्र-घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास थे। इस प्रकार गोस्वामीजी पं० रामचंद्र शुक्ल के सीधे मातुलवर्ग में आते हैं। अपने

जीवनकाल में शुक्लजी को जितनी शक्ति तथा शांति गोस्वामीजी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई, उतनी उन्हें और किसी भाव-भूमि में जाकर नहीं मिली।

अगोना बस्ती से छ मील दूर दक्खिन हरे-भरे खेतों और अमराइयों के बीच एक छोटा-सा ग्राम है। गाना यहाँ से तीन मील पूर्व है। इस प्रांत की भाषा विशुद्ध अवधी है। अयोध्या अगोना से कुल ३०-३२ मील पश्चिम है। गाना से एक सीधा चौड़ा कच्चा रास्ता अगोना होता अयोध्या चला गया है। अब तक इस प्रदेश की ग्राम-स्त्रियाँ बैलगाड़ियों पर आवरण डालकर उसके भीतर से 'रथ हाँकउ गाड़ीवान अजोध्यन जावौं' गाती हुई भगवान की पावन जन्मभूमि के दर्शनार्थ इसी मार्ग से जाया करती हैं। जन्म लेते ही जिस वाणी के प्रकृत सौंदर्य के बीच बालक रामचंद्र शुक्ल का हृदय पला था, जिस वाणी में माता-पिता तथा परिचित जन हँसते-बोलते, खेलते-कूदते, रोते-गाते सुनाई पड़े, उसी प्रिय परिचित वाणी के परमोज्ज्वल प्रकाश में भगवान के मंगलमय, लोकरंजक, शीलोत्कर्ष की दिव्य प्रभा को आगे चलकर असाधारण प्रतिभा-संपन्न इस बालक ने कितना झाँक-झाँक कर देखा तथा उसके माधुर्य पर कितना मुग्ध हुआ।

राठ से पं० रामचंद्रजी शुक्ल की शिक्षा प्रारंभ हुई। तत्कालीन शिक्षा-विधि में 'भाषा' का स्थान बहुत नीचे था। मुगलों के समय से ही फारसी सरकारी दफ्तरों तथा अदालतों की भाषा चली आ रही थी। जिस मदरसे में पं० रामचंद्र शुक्ल की फारसी-शिक्षा होती थी, उसी में एक पंडितजी 'हिंदुई' भी पढ़ाते थे। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को अक्षरारंभ कराया। राठ में कुल तीन वर्ष के लगभग इनके पिता रहे। तदुपरांत वे मिर्जापुर सदर कानूनगो होकर गये। मिर्जापुर ही में पं० रामचंद्र शुक्ल की अलौकिक प्रतिभा का स्फुरण हुआ। राठ में एक

घटना ऐसी अवश्य हुई जिसने उनके भावी जीवन के कुछ काल को अत्यंत जटिल बना दिया। इनकी उम्र अभी ६ वर्ष की ही थी कि इनकी माता इनके तीसरे भाई पं० कृष्णचंद्र के जन्म के एक मास पश्चात् इस संसार से चली गयीं। पं० रामचंद्र शुक्ल उस 'दीया तालाब' का स्मरण बराबर किया करते थे, जहाँ राठ में उनकी माता के नश्वर शरीर की अंतिम प्रक्रिया समाप्त की गयी थी।

मिर्जापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ास्थली है। विंध्य के चरणों के प्रति जाह्नवी का कैसा अनुराग है। वैसे तो राठ रहते हुए बुंदेलखंड की पहाड़ियों का भी प्रभाव पं० रामचंद्र शुक्ल के हृदय पर पड़ा था। किंतु, जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्जापुर की सघन वन्य-वृक्षों से लदी पर्वत-मालाओं, ऊँची-नीची पर्वत-स्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रंग-बिरंग के शिलाखंडों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली-फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम-बस्तियों के साहचर्य से प्राप्त हुई, उतनी बुंदेलखंड के रूखे-सूखे भू-खंड के द्वारा कदापि संभव न थी। जोगिया, मेंहदिया, आमघाट, बरघाट, तुलतुलहवा, लुटकिया आदि स्थान सदा उनके स्मृति-चिह्न बनाये रहेंगे। मृत्यु के प्रायः डेढ़ मास पूर्व जब वे किसी कार्य-विशेष से काशी से मिर्जापुर गये थे, तब वहाँ के साहित्य-मंडल ने उनका अपूर्व स्वागत किया था। उस अवसर पर उनके जो हृदयोद्गार निकले थे, उनकी शब्दावली तो अभी प्राप्त न हो सकी; किंतु आशय इस प्रकार निकलता था :—

"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भूखंड रहे। मैं

यहाँ के एक-एक नाले से परिचित हूँ—यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ।"

मिर्जापुर की जिस रमईपट्टी में आकर इनके पिता रहने लगे, उसके सौंदर्य का संकेत 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में पं० रामचंद्र शुक्ल ने स्वयं किया है। हरे-भरे खेतों के बीच "लाल खपरैल के सँवारे धान" इसी रमईपट्टी के लिये आया है। रमईपट्टी के जिस छोर पर इनके पिता ने अपना निवास-स्थान बनाया, उस ओर कुल चार-पाँच मकान पहले के बने हुए थे। उनमें पं० विंध्येश्वरीप्रसाद तथा बा० बलभद्र-सिंह डिप्टी-कलेक्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। बा० बलभद्रसिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदकमात्र ही नहीं, उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहाँ सदा रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत पुराण आदि का पाठ होता था। तीस-चालीस सुननेवाले एकत्रित रहते थे। पं० विंध्येश्वरीप्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत-से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महा-कवियों की कृतियों का अध्ययन करने के हेतु आया करते थे। पंडितजी प्रायः संध्या के समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो वहाँ से दो-तीन मील की दूरी पर हैं; अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी-नाले के किनारे स्वच्छंद समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यंत सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढ़ते। कुछ बढ़ने पर पं० रामचंद्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर प्रकृति के इस भावुक पुजारी के साथ घूमने निकलने लगे।

मिर्जापुर पहुँचते ही आपकी अंग्रेजी-शिक्षा प्रारंभ हो गयी; फारसी की ओर भी उनके पिता का ध्यान पूर्ववत् रहा। इन्हें पढ़ाने के लिये एक मौलवी साहब घर पर आते रहे। उन दिनों पं० रामगरीब

चौबे नामक अंग्रेजी के असाधारण सुलेखक वहीं रहते थे। सर विलियम क्रुक्स की 'हिल ट्रिब्स ऐंड कास्टस्" नामक पुस्तक निकल रही थी। पं० रामगरीब चौबे उसे लिखते जाते थे। क्रुक्स साहब इधर-उधर कुछ संशोधन करके उसे छपाते जाते थे। उनके द्वारा जो प्रोत्साहन पं० रामचंद्र शुक्ल को अंग्रेजी के अध्ययन में मिला, उसे वे जीवन-पर्यंत स्वीकार करते रहे। इसी स्थान पर हम पं० वागीश्वरीजी का भी उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते। पं० रामचंद्र शुक्ल के वे हिंदी के अध्यापक थे तथा अत्यंत विनोदप्रिय थे। उनकी भी शिष्य-मंडली घूमने निकलती। इस प्रकार मिर्जापुर का 'लोक' राठ से बहुत विभिन्न दिखाई पड़ा। पं० रामचंद्र शुक्ल को बा० बलभद्रसिंह तथा पं० विंध्येश्वरीप्रसाद के यहाँ का वातावरण अपने पिता के सान्निध्य से कहीं अधिक प्रिय प्रतीत होने लगा। वहाँ उनके सहचर रामानंद और परमानंद (पं० माताप्रसाद के लड़के) तथा जयजयलाल (मुं० जगदंबा प्रसाद वकील के भतीजे) बराबर मिलते। इन लोगों में किसी की अवस्था चौदह-पंद्रह वर्ष से ऊपर न थी। परमानंद और रामानंद की विलक्षण जोड़ी थी। दोनों बड़े हँस-मुख और विनोदप्रिय थे। चंदन लगाते थे और धोती पहनकर नंगे सिर दिखायी देते थे। जयजयलाल (लालजी) भी कायस्थ होकर धोती पहने रहते। इस मंडली में जाकर पं० रामचंद्र शुक्ल ने चंदन तो नहीं लगाया, पर पायजामा छोड़कर धोती पहनने लगे; स्कूल कोट-पतलून पहनकर जाने लगे। कभी-कभी घूमती-फिरती यह बाल-मंडली 'पक्के पोखर' तक निकल जाती, जो रमईपट्टी से थोड़ी दूर बाहर है, और वहाँ भगतजी को 'राधेश्याम' 'राधेश्याम' कहकर चिढ़ा आती थी। इस प्रकार की जीवनचर्या पं० रामचंद्र शुक्ल को जितनी प्रिय प्रतीत हुई, उतनी ही उनके पिता को अप्रिय। इनके धोती पहनने पर नाराज होकर वे कहा करते—"हरामजादा उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।" इनके पिता भूलकर एक क्षण के लिये भी बा० बलभद्रसिंह अथवा

पं० विंध्येश्वरी प्रसाद आदि के यहाँ न जाते। वहाँ के वायु-मंडल से उन्हें सख्त नफ़रत थी।

धीरे-धीरे मिर्जापुर रहते हुए इनके पिता को दो साल हो गये। इनका दूसरा विवाह ठीक हो गया। पं० रामचंद्र शुक्ल की अवस्था जिस समय ११ साल की थी, घर में विमाता का प्रवेश हुआ। अभी इनकी दादी जीवित थीं। घर में उनका पूर्ण आतंक था। विमाता के आने से किसी प्रकार का परिवर्तन पं० रामचंद्र अथवा इनके दोनों सहोदर भ्राताओं को न जान पड़ा। १२ वर्ष की अवस्था में पं० रामचंद्र शुक्ल का भी विवाह हो गया। बाल-विवाह की कुप्रथा की ओर उस समय इतना ध्यान नहीं रखा जाता था जितना अब शिक्षा के प्रसार से हुआ है। १५ वर्ष की अवस्था में पं० रामचंद्र शुक्ल ६ वीं कक्षा में पहुँचे। उसी साल इनकी धर्मपत्नी (इस लेख के लेखक की पूज्य माता) घर में आयीं। पं० रामचंद्र शुक्ल की दादी अब बूढ़ी हो चली थीं। ये अभी नवीं कक्षा पास भी न कर पाये थे कि इनकी दादी की अकस्मात् मृत्यु हो गयी।

यहाँ से लगभग छ-सात वर्ष तक पं० रामचंद्र शुक्ल के जीवन का अत्यंत जटिल अंश प्रारंभ होता है। दादी की मृत्यु के उपरांत विमाता के शासन से पं० रामचंद्र शुक्ल तथा उनके दोनों सहोदर भाइयों को कई प्रकार के कष्ट होने लगे। पं० रामचंद्र शुक्ल तथा इनके भाई श्री—हरिश्चंद्र तथा श्री कृष्णचंद्र बराबर विमाता को झाड़ते-फटकारते रहे। पिता इन लड़कों से सख्त नाराज हो गये। जिस समय दाँत पीसकर "कम्बख्त बज्जात, बदतमीज, बदबख्त, नामाकूल, नालायक" आदि फारसी शब्दों की तीव्र वर्षा इनके पिता इनपर करते, उस समय प्रलय प्रभंजन उठता था। नौबत यहाँ तक आयी कि स्कूल की फीस बंद कर दी गयी। विमाता

के दुर्व्यवहार से दुखी होकर पढ़ना-लिखना छोड़कर पं० रामचंद्र शुक्ल 'अगोना' भाग जाने की तैयारी करने लगे। किसी प्रकार गृह-कलह कुछ शांत हुआ और पं० रामचंद्र की एंट्रेंस की पढ़ाई समाप्त हुई। अब दूसरा बखेड़ा शुरू हुआ। पं० रामचंद्र शुक्ल के पिता यह चाहते थे कि कचहरी में जाकर वे दफ्तर का काम सीखें। किंतु, पं० रामचंद्र शुक्ल, जो बराबर अपने दर्जे में प्रथम रहे, इलाहाबाद जाकर आगे कालेज में पढ़ना चाहते थे। एक वर्ष तक यह द्वंद्व चलता रहा। अंत में इनके पिता ने वकालत पढ़ने के लिये इनको प्रयाग भेजा। इनकी रुचि वकालत की ओर न होने के कारण ये परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे तथा मिर्जापुर लौट आये।

मिर्जापुर आने पर इन्होंने अपने पिता के भीतर एक विशेष परिवर्तन देखा। इनका झुकाव अब धीरे-धीरे हिंदी की ओर हो रहा था। रामायण, रामचंद्रिका आदि बड़ी भक्ति से ये पढ़ने लगे। साथ ही साथ भारतेंदु हरिश्चचंद्र के ग्रंथों का अवलोकन भी करते। रामानंद और परमानंद, (पं० रामचंद्र शुक्ल के सहचर) अब इनके पास आने-जाने लगे। सबसे अधिक आश्चर्य पं० रामचंद्र शुक्ल को इस बात पर हुआ कि इनके अनुत्तीर्ण होने पर इनके पिता ने किसी प्रकार का रोब प्रकट नहीं किया। इस नूतन परिवर्तन का चाहे और कोई कारण रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि सबसे अधिक प्रभाव उनपर रमईपट्टी के सुचारु वातावरण का पड़ा था। कब तक वे उससे दूर रह सकते थे!

पं० रामचंद्र शुक्ल को पिता के इस आकस्मिक परिवर्तन से बड़ा प्रोत्साहन मिला। 'मनोहर छटा' नामक इनकी कविता सरस्वती में बहुत पहले निकल चुकी थी। 'शिशिर-पथिक', 'वसंत-पथिक', 'भारत और वसंत', 'दुर्गावती' इत्यादि इनकी और रचनाएँ अब निकलीं। पिता भी इनकी इन कृतियों पर प्रसन्न दिखाई पड़े। मिर्जापुर से इस समय स्वर्गीय उपाध्याय पं० बद्रीनारायणजी चौधरी की 'आनंद कादंबिनी'

पत्रिका निकलती थी। पं० रामचंद्र शुक्ल की रचनाएँ उसमें भी निकलने लगीं। चौधरीजी के यहाँ पं० रामचंद्र शुक्ल बराबर आने-जाने लगे और इनके भीतर हिंदी के सुलेखक बनने की बड़ी प्रबल उत्कंठा जाग गयी, जो निरंतर दृढ़तर होती गयी। इसी समय इन्होंने अंग्रेजी से दो अनुवाद कर डाले, जो इनकी उस समय की अल्पावस्था के ध्यान रखने-वालों को चक्कर में डाल देते हैं। 'एडीसन एसेज ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' लेख-रूप में नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में निकला तथा 'मेगास्थनीज की इंडिया' का अनुवाद 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन' ग्रन्थाकार प्रकाशित हुआ। इस काल की एक मनोरंजक घटना का उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इनके पिता ने बड़ा प्रयत्न करके इनका नाम नायब-तहसीलदारी के लिए मि० विंडहम के द्वारा, जो उस समय मिर्जापुर का कलेक्टर था, गवर्नमेंट में भिजवाया। पं० रामचंद्र शुक्ल अपने पिता के साथ कई बार कलेक्टर के बँगले पर गये। कलेक्टर को प्रसन्न करने के लिए 'हुजूर' कहना आवश्यक था। संभवतः पं० रामचंद्र को भी इस अपमान-जनक विधि का प्रतिपालन करना पड़ता। तदुपरांत इनके आत्मबल को इतनी ठेस लगी तथा इनके चित्त में इतनी ग्लानि का संचार हुआ कि चट इन्होंने अंग्रेज कर्मचारियों की नवाबी तथा हिंदुस्तानी की खुशामदी जी-हुजूरी की तीव्र आलोचना 'हिंदुस्तान रिव्यू' में, जो उस समय प्रयाग से निकलता था, अंग्रेजी में एक लेख 'व्हाट हैज इंडिया टु डू ?' में की। किसी प्रकार यह लेख मिस्टर विंडहम के हाथों में पड़ गया। चिढ़-कर उसने 'नालायक' कहकर इनका नामिनेशन रद्द कर दिया। उस दिन से कभी सरकारी नौकरी का नाम इन्होंने नहीं लिया। अपना जो मार्ग ये स्वयं निकाल रहे थे, वही इन्हें कल्याणकारी प्रतीत हुआ।

तीन वर्ष तक मिर्जापुर के लंदन-मिशन स्कूल में ड्राइंग टीचर रहने के उपरांत २५ वर्ष की अवस्था में हिंदी-शब्द-सागर के सहायक संपादक

होकर ये काशी गये। कोष-कार्य समाप्त होते ही हिंदू-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में इनकी नियुक्ति हुई। वहीं ये अंतिम समय तक रहे। काशी ही में इनके जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत हुआ है। बीच में एक वर्ष के लिए जब बा० श्यामसुंदर दास (अब रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास) के साथ शब्द-सागर-विभाग उठकर काश्मीर गया तब ये भी काश्मीर गये। वहाँ इनके स्वास्थ्य को अपूर्व लाभ पहुँचा— इनका शरीर स्निग्ध-सा हो गया। हिंदू-विश्वविद्यालय में आने के उपरांत एक बार अलवर नरेश विद्याप्रेमी महाराज सर सवाई जयसिंह ने तुलसी के अध्ययन के लिये इन्हें अपने यहाँ बुलाकर रखा; किंतु इनका जी वहाँ न लगा और ये चले आये। काशी ही में सूर, तुलसी, जायसी आदि पर गूढ़ आलोचनात्मक निबंध तथा 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य,' 'कविता क्या है?' आदि गंभीर मार्मिक काव्य-समीक्षाएँ इनकी निकलीं। हिंदी-शब्द-सागर तथा हिंदी-साहित्य के इतिहास की पूर्ति भी इन्होंने काशी ही में रहकर की। 'बुद्ध चरित,' 'फारस का इतिहास', 'शशांक', 'विश्व-प्रपंच', 'आदर्श जीवन', आदि और कितने ही प्रसून इनकी लेखनी द्वारा वहाँ से प्रकट हुए। काशी ही में आने के उपरांत नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादकत्व-काल में मनो-विकारों पर इनके जटिल दार्शनिक विचारात्मक निबंध बहुत पहले निकल चुके थे। काव्य-मीमांसा तथा सूरदास पर लिखे हुए इनके दो ग्रंथ अभी अ-प्रकाशित ही पड़े हुए हैं।

बाल्यकाल से ही ये गंभीर थे। विद्यानुराग इनका उसी समय प्रकट हो गया था, जब ९वीं कक्षा में ही रात्रि के एक-एक बजे तक इनके कमरे में दीपक जला करता था और वे लेटे-लेटे एडीसन के एसेज ऑन इमैजीनेशन अथवा हरबर्ट स्पेंसर की साइकोलॉजी के पृष्ठों में डूबे हुए दिखाई पड़ते थे। मिर्जापुर की मेयो मेमोरियल लाइब्रेरी का संचालन

उस समय पं० केदारनाथ पाठक के द्वारा होता था। अंग्रेजी पुस्तकों की तो वहाँ कमी न थी, पर हिंदी की पुस्तकें जोड़-बटोरकर पाठकजी पं० रामचंद्र शुक्ल के सामने रखते थे। पढ़नेवाला व्यसन इनके जीवन-पर्यंत रहा। इनका स्वभाव इतना सरल, इनकी बातें इतनी सरस तथा इनकी छाया इतनी शीतल थी कि उसमें मनुष्य ही नहीं, कुत्ते, बिल्ली, फूल, काँटे, घास, पात, करील, झाऊ आदि को भी विश्राम मिलता था। इनके साहचर्य के माधुर्य को इनके समीप रहनेवाले अथवा इनके समीप आनेवाले सदा समझेंगे—जो प्राणी बोल सकते हैं, वे रोयेंगे, जो मूक हैं वे अवाक् रहेंगे।

—केशवचंद्र शुक्ल

पं० माखनलाल चतुर्वेदी (एक भारतीय आत्मा)

आज से लगभग चालीस वर्ष पहले की बात है।

सतपुड़ा की तलहटी में, नर्मदा के किनारे के एक गाँव में एक गोरा-सा लड़का कुछ फूल-पत्तों तथा कागज के कुछ टुकड़ों को लेकर एक दुनिया का निर्माण कर रहा था कि पड़ोस के घर से एक बालिका निकली। हौले कदम से, चुपचाप वह आगे बढ़ती गयी और एक ही झपाटे में उस बालक की दुनिया का सर्वनाश कर, खिलखिलाती हुई भाग चली। इसके पहले भी, वह, इस आठ-नौ वर्ष के बालक को, कई बार तंग कर चुकी थी। किंतु, इस बार का उसका यह नटखटपन बालक को बहुत खला। उसकी आँखों में दो मुक्ताएँ चमक पड़ीं ; किंतु उन्हें, दरिद्र की निधि की तरह, जहाँ का तहाँ जब्त कर लिया उसने। अब उसका गोरा चेहरा तमतमा उठा—लाल, सुर्ख। वह चुपचाप वहाँ से चलता बना। घर आया ; अपना बस्ता खोला ; कागज निकाला। सरकंडे की कलम से उसपर वह कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचने लगा। फिर कागज को बड़ी सावधानी से मोड़, अपनी जेब में रख, वह गाँव से बाहर ग्राम-रक्षक की तरह खड़े हुए पुराने पीपल के पेड़ के निकट आ खड़ा हुआ। इधर-उधर देखा। जेब से कागज निकाला, उसको फिर पढ़ा और जुगतकर लायी हुई लोहे की एक काँटी उस पेड़ में ठोंककर

उससे उस कागज को लटका दिया। एक बार इधर-उधर देखा कि किसी ने उसे देख तो नहीं लिया और फिर नौ-दो-ग्यारह हुआ। कुछ देर के बाद ही उस पेड़ के निकट एक छोटी-सी भीड़ लग गयी। लोगों ने समझा, किसी के खेती का नीलामी इस्तहार अदालत का चपरासी टाँग गया है। उत्सुकतावश जब उसे देखने लगे, तो पायी उसमें एक कविता—यदि उसे कविता कहा जाय तो। उस कविता द्वारा उस बालिका से बदला चुकाया गया था। बालिका का नाम था द्रौपदीबाई और उसके पिता का धनीरामजी। बस, दोनों के नाम के साथ, कुछ और अंटसंट नामों को गूँथ-गाँथकर, एक अजीबो-गरीब रचना की गयी थी—

धनीराम की पोली पाई, उससे निकली द्रौपदी बाई
द्रौपदी बाई ने काटी जामन, उससे निकला कलुआ बाभन।
कलुआ बाभन लाया खाट, उससे निकला काशी भाट।

आदि-आदि।

थोड़ी ही देर में यह कविता गाँव भर में फैल गयी। अपराधी रचयिता का पता भी नहीं छिप सका। बालिका के पिता बालक के अभिभावक के पास दौड़े-दौड़े आये और क्रोधपूर्ण उलाहना दिया। प्राचीन संस्कार में पले अभिभावक को भला यह शिष्टाचारोल्लंघन कैसे पसंद आता? गो कि बालक प्यारा था; किंतु गोशमाली देने से बाज न आये। यों इस बाल-कवि को अपनी पहली कविता के प्रथम पुरस्कार के लिये अपने कान की मरम्मत करानी पड़ी! भला, उस समय यह किसने कल्पना की होगी कि एक दिन यही बालक हिंदी-संसार में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से सादर स्थान पावेगा!

'कर्मवीर' के कीर्ति-लब्ध संपादक पं० माखनलाल चतुर्वेदी का ही कवि-रूप 'एक भारतीय आत्मा' है—इसका उल्लेख करने की आवश्यकता

अब नहीं रह गयी है ; गर्चे किसी युग में 'एक भारतीय आत्मा' के वास्तविक नाम की खोज-ढूँढ़ में बहुत लोगों को परेशानी उठानी पड़ी थी, जिनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है। किंतु, अब तो हिंदी-साहित्य का साधारण पाठक भी इस बात को जानता है।

'एक भारतीय आत्मा' का जन्मस्थान होने का गौरव महाकोशल के होशंगाबाद जिले के बाबई नामक ग्राम को प्राप्त है। आपका जीवन उस भू-भाग में ही बीता है, जिसे नर्मदा के जल से सिंचित होने का सौभाग्य प्राप्त है। अतः, हाल ही में एक लेखक ने आपका परिचय 'नर्मदा-तट का गायक' के नाम से दिया था, जो सर्वथा उचित है। आपके जीवन पर ही नहीं, आपकी कविता में भी नर्मदा नदी की छाप है। पहाड़-पहाड़ियों और पथरीली भूमि में उछलती-कूदती, लड़ती-झगड़ती-सी, तरंगमयी, भँवरमयी, यौवनसूचक फेनमयी—कल-कल, छल-छल, हाहा-हूहू करनेवाली नर्मदा 'ठंढी शक्ति' ही दुर्द्धर्षता और अजेता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। अपने गायक के जीवन और वाणी में भी निस्संदेह ही उसने अपनी इन विशेषताओं को बहुत अंशों में भर रक्खा है।

इनकी जन्म-तिथि है चैत्र शुक्ल एकादशी संवत् १९४४ वि० (सन् १८८७) 'एक भारतीय आत्मा' पेट की बीमारियों के सदा शिकार रहे हैं, जिसके कारण अनाहार और स्वल्पाहार आपकी खासियत हो गयी है। अतः आपकी माताजी इस जन्म-दिन एकादशी की ओर लक्ष्य करके जब-तब फबती कसा करती हैं—"अन्न तेरे बाँटे कहाँ पड़ा, जो तू खाय—तू तो एकादशी को जन्मा है।" आपके पिताजी का नाम था पं० नन्द-लालजी चतुर्वेदी। आप ग्रामीण स्कूल के एक साधारण मास्टर थे। किंतु अपनी परिमित आय से ही अपने परिवार का इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक भरण-पोषण करते थे कि लोगों को आश्चर्य होता था। स्वावलंबन और

स्वाभिमान की तो आप मूर्ति थे। जिस समय आज के 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रख्यात आपके प्यारे पुत्र, उस समय के माखनलाल ने, अपने पैतृक धंधे स्कूल मास्टरी को प्रारंभ कर अपनी कमाई का पहला पैसा—कुछ रुपये—उनके पास मनीआर्डर से भेजा, तो आपने उस कूपन पर यह लिखकर, लौटा दिया—

"आस पराई जो करे, होते ही मरि जाय।"

माताजी की वीरता की तो एक ऐसी करुण कहानी है कि यदि आज भी उन्हें कोई ये पंक्तियाँ सुना दे, तो दो-एक दिन का उपवास वे जरूर करें—जब-जब उसकी चर्चा चल पड़ी है, आप ऐसा ही करती आयी हैं। सुनते हैं, वीर और करुण रस परस्पर विरोधी हैं; किन्तु इस घटना में इन दोनों का समावेश विभिन्न रूप से हुआ है।

'एक भारतीय आत्मा' के पिताजी स्कूल मास्टर थे। गाँव के एक छोर पर उनकी झोपड़ी थी। रात को लड़कों को उनके घर पर खानगी पढ़ाने को चले जाते थे और कभी-कभी देर से भी लौटते थे। मध्य-प्रांत तो आज भी जंगलों और टीलों-पहाड़ियों से भरा प्रदेश है। आज से तीस-चालीस वर्ष पहले तो और भी था। उस समय चार और दो पैर के चीतों की भी भरमार थी, अतः माताजी सदा अपनी बगल में एक लाठी लेकर सोती थीं—जो आज तक इस खंडवा नगर में भी जारी रखे हुई हैं। एक रात को पंडित नंदलालजी पढ़ाकर कुछ देर से लौटे और दरवाजा खटखटाया। माताजी ने पूछा —'कौन?' पंडितजी को विनोद सूझा—चुप रहे। फिर दरवाजे पर खटखटाहट—फिर कौन का प्रश्न। एक-दो बार यही क्रम और। माताजी को आशंका हुई; अतः झूठ-मूठ, यह बतलाने के लिये कि घर में कोई पुरुष भी है, बोलीं—"माखनलाल के पिताजी, उठिये, कोई दरवाजा खटखटा रहा है।" किंतु, इस चकमे में स्वयं माखनलाल के पिताजी कैसे आते! फिर दरवाजे पर खटखटाहट। माताजी की आशंका दृढ़ हो

गयी ; किंतु अबला की तरह चीखने-चिल्लाने की अपेक्षा आपने अपनी लाठी सँभाली और आगे बढ़ीं। दरवाजा खोला, तो सामने एक मनुष्य की सूरत दीख पड़ी—बस, क्या था, आपकी लाठी उसके सिर ! एक धीमी आह !–अरे, यह तो पंडितजी हैं ! माताजी के काटो तो खून नहीं। उधर पंडितजी के सिर से खून जारी। रोशनी की, दवा-दारू की; रोयीं और उपवास किया। आज भी कहा करती हैं—मुझे इसके लिये नरक भोगना पड़ेगा। किंतु, इस घटना ने पंडित नंदलालजी की आँखों में उनकी इस वीर पत्नी की कीमत कई गुनी बढ़ा दी। जब तक वह जीवित रहे, पत्नी की इस वीरता की चर्चा अभिमान से करते रहे। पं० नंदलालजी के पूर्वज राजस्थान से आकर मध्यप्रांत में बसे थे। तो क्या इस घटना को राजस्थानी वीरांगनाओं के खून की एक झलक समझा जाय ?

पं० नंदलालजी को चार पुत्र-रत्न प्राप्त हुए। 'एक भारतीय आत्मा' उनमें सबसे बड़े हैं। इनके शेष तीन भाइयों की शिक्षा-दीक्षा में इस अग्रज का भी बहुत हाथ रहा। उनमें एक पं० रामदयालु चतुर्वेदी मध्यप्रांत के शांतिनिकेतन सेवासदन-मंदिर, हिरनखेड़ा का संचालन कर रहे हैं। उनसे छोटे श्री हरिप्रसाद चतुर्वेदी 'कर्मवीर' के प्रबंध-विभाग की देख-रेख करते हैं, और सबसे छोटे श्री ब्रजभूषण चतुर्वेदी वकालत पढ़ रहे हैं।

'एक भारतीय आत्मा' उन पुरुषों में हैं, जो आप अपना निर्माण करते हैं। एक पूरे परिवार का संचालन करनेवाले देहाती स्कूल के मास्टर अपने पुत्र को ज्यादा से ज्यादा जो शिक्षा दे सके, वह थी प्राइमरी तक की। प्राइमरी पास करके 'एक भारतीय आत्मा' होशंगाबाद जिले के ही मसनगाँव नामक ग्राम में मास्टरी करने लगे। फिर वहाँ से खंडवा चले आये। वहाँ वे बंबई बाजार के एक प्राइमरी स्कूल में अध्यापक का काम करते रहे। जिन लोगों ने आज से तीस वर्ष पहले एक गोरे, दुबले-

पतले युवक को दर्जनों बच्चों के बीच बैठे, उन्हें बारहखड़ी और पहाड़ा रटाते देखा होगा, क्या उन्होंने कल्पना भी की होगी कि यही दुबला-पतला, लजीला-सा युवक एक दिन न केवल इसी नगर का, वरन् इस प्रांत का एक प्रमुख पुरुष होगा और कितने ही प्रतिभाशाली ग्रेजुएट युवक दूर-दूर से आकर इससे साहित्य की बारहखड़ी और कविता का पहाड़ा पढ़ेंगे !

किंतु, जिन्होंने उस समय भी गौर से देखा होगा, उन्होंने इस युवक में कुछ ऐसी चीजें, बीज-रूप में पायी होंगी, जिससे कि उसके भावी जीवन की एक धुँधली-सी तसवीर बनायी जा सके।

जैसा कि कहा जा चुका है, कवित्व के नाम पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचना तो 'एक भारतीय आत्मा' ने आठ-नौ वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ कर दिया था। पिताजी तुलसीकृत रामायण और सूरदास आदि के वैष्णव-पदों के बड़े भक्त थे। अतः, उन्होंने अपने पुत्र की रुचि स्वभावतः ही इस ओर खींची और यों प्रथम साहित्यिक गुरु का काम किया। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' प्राइमरी स्कूल की गुरु-ट्रेनिंग में पढ़ते थे, पं० कुंदनलाल नामक एक सज्जन इनके अध्यापक थे। कविता से उन्हें शौक था। आपने इस प्रतिभाशाली छात्र में भी उन्होंने इस शौक को पल्लवित किया। सन् १६०३ में ही—सोलह वर्ष की अवस्था में—इस किशोर ने एक कवित्त के द्वारा सरस्वती से यों प्रार्थना की थी—

जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरी मात मोको तान दीजिये।

खंडवा में भी गुपचुप रचनाएँ चलती थीं ; किंतु अपने को जब्त रखने की भावना इतनी प्रबल थी कि प्रकट नहीं होने दिया जाता था। आज भी यह रोग (मैं तो इसे रोग ही कहूँगा) बना हुआ है। यही कारण है कि वर्षों से कितने ही प्रकाशकों के आग्रह तथा कितने ही मित्रों और भक्तों के दुराग्रह के बाद भी इनकी कविताओं का संग्रह नहीं

प्रकाशित हो सका। यहाँ तक कि यह परिचय भी प्रथम-प्रथम ही छप रहा है, और सो भी कितनी कठिनाई से, वह मैं ही जानता हूँ। उस समय की केवल एक रचना कानपुर के 'रसिक मित्र' में छपी और निस्संदेह वही 'एक भारतीय आत्मा' की प्रथम प्रकाशित रचना भी है। इसकी दो पंक्तियाँ यहाँ मैं इसलिये दे देता हूँ कि उनसे पता चलता है कि कवि की विचार-धारा उसके किशोर-जीवन से ही किस ओर प्रभावित हो रही थी—

"जायगो हमारो धनधाम लुटि दूर देश,
कोई नाहिं चलिबे को मारग बतायगो।
तायगो हरेक बलवान बनि, दीनन को,
हीनन को मानहु खजानो दिखलायगो।

देश-प्रेम की धारा में ही अपनी काव्य-प्रतिभा को विलीन कर देनेवाले, नेतृत्व का बाना धर कितनों ही को बलिपथ की ओर प्रेरित करनेवाले, बलवानों के उत्पीड़न और शोषण से दीनों-हीनों की रक्षा करने को उद्यत रहनेवाले 'एक भारतीय आत्मा' की आत्मा के भावी विकास का बहुत-कुछ आभास इस कोरी तुकबन्दी से मिलता है।

१६-१७ से लेकर २६-२७ तक के ये नौ-दस वर्ष ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव जीवन के गठन पर बहुत ही अधिक पड़ता है—ऐसा विद्वानों का कथन है। इन वर्षों के अंदर ही 'एक भारतीय आत्मा' पर तीन सज्जनों का प्रभाव पड़ा, और उनके भावी जीवन का गठन भी तदनुसार ही हुआ। वे तीन महापुरुष हैं—'सैयद अमीर अली' 'मीर', 'स्वामी रामतीर्थ' और 'पं० माधवराव सप्रे'। इन तीनों के प्रभाव के कारण 'एक भारतीय आत्मा' के हृदय में बीज-रूप से विद्यमान कवि-प्रतिभा, आध्यात्मिकता और देश-भक्ति का पूर्ण विकास हुआ।

मुसलमान होकर भी हिंदी के अनन्य सेवक, सुकवि मीरजी को कौन हिंदी-साहित्य-प्रेमी नहीं जानता? १६०८-६ की बात है। 'छंद-प्रभाकर'

और 'काव्य-प्रभाकर' के रचयिता श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' सेटिलमेंट अफसर के रूप में उस समय खंडवा में ही रहते थे। 'भानु कवि-समाज' नामक संस्था भी यहाँ आपने कायम कर रखी थी। उस समय 'काव्य-प्रभाकर' का संकलन चल रहा था। मीर साहब को भी भानुजी ने रेवेन्यू इंस्पेक्टर की जगह अपने पास बुला लिया था। यों खंडवा-जैसे स्थान में भी साहित्य और कविता का एक विचित्र वायु-मण्डल तैयार हो रहा था। युवक 'एक भारतीय आत्मा' को मीरजी ने देखा और इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हुए। यही नहीं, आपने इन्हें खूब उत्साहित भी किया तथा काव्य-रीति से भी व्यापक परिचय कराया। 'एक भारतीय आत्मा' अपने काव्य-गुरु के रूप में मीरजी का स्मरण करते हुए आज भी गद्गद हो उठते हैं। मीरजी की संगति ने आप को हिंदू-मुस्लिम-एकता का भी कट्टर हामी बना दिया, जिसके आज तक भी ये जबर्दस्त समर्थक हैं। १९२० के क्रान्ति-युग में निकली हुई 'एक भारतीय आत्मा' की इन पंक्तियों में मीरजी की आत्मा मुस्करा रही है—

मन्दिर में हो चाँद चमकता, मस्जिद में मुरली की तान;
मक्का हो चाहे वृन्दावन, होवें आपस में कुर्बान।

स्वामी रामतीर्थ से साक्षात्कार करने का सौभाग्य तो 'एक भारतीय आत्मा' को नहीं हुआ; किन्तु उनकी रचनाओं ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया। स्वामी राम की उस कर्तृत्व से ओतप्रोत, देश-प्रेम से लबालब आध्यात्मिकता के घूँट ने किस सहृदय को एक बार मस्त न बना दिया होगा? फिर कहने और लिखने की उनकी वह अनूठी शैली! स्वामी राम के शिष्य सन्त पूरणसिंह की हिंदी-रचनाएँ भी उस समय यदाकदा निकला करती थीं। उनमें भी वही एक नवीन चीज, एक नवीन ढंग से पेश की गयी मिलती थी। 'एक भारतीय आत्मा' का भावुक हृदय इनकी ओर खूब खिंचा। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' की रचनाओं में—चाहे वे पद्य में हों या गद्य में—जो एक खास शैली दीख

पड़ती है, उसका उद्गम स्थान है स्वामी राम और सन्त पूरणसिंह की रचनाएँ। यद्यपि इनकी शैली स्थान, काल, पात्र के भेद से बिलकुल एक स्वतंत्र—इनकी 'अपनी' चीज ही बन गई है।

इसी समय आपको पं० माधवराव सप्रे के सत्संग में आने का सौभाग्य हुआ। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' के हिंदी-अनुवादक के ही रूप में हिंदी-संसार मुख्यतः सप्रेजी को जानता है; किंतु सप्रेजी केवल इतने ही नहीं थे। मध्यप्रांत के सार्वजनिक जीवन के निर्माण में उनका प्रमुख हाथ है। महाराष्ट्रीय होने पर भी मध्यप्रांत में हिंदी के प्रचार, प्रसार और उसके साहित्य के निर्माण के लिये जो प्रयत्न आपने किया, वह तो एक स्वतंत्र लेख की चीज है। सप्रेजी उस समय नागपुर से 'हिंदी-केसरी' निकाल रहे थे। उन्होंने 'हिंदी-केसरी' में 'स्वदेशी आंदोलन और बायकाट' विषय पर एक लेख-प्रतियोगिता करायी और सर्वश्रेष्ठ लेख के लिये पुरस्कार देने की घोषणा भी की। 'एक भारतीय आत्मा' ने भी डरते-डरते एक लेख लिख भेजा। वह लेख पुरस्कार-योग्य तो ठहरा ही, साथ ही सप्रेजी उससे बहुत प्रभावित हुए, और उन्होंने प्रशंसा करते हुए 'हिंदी-केसरी' में बराबर लेख लिखते रहने के लिये इनसे आग्रह किया। यही नहीं, कुछ दिनों के बाद सप्रेजी खंडवा आये और इनसे मिले भी। सप्रेजी की इस सहृदयता ने आपको बहुत ही आकृष्ट किया, और आप सप्रेजी के भक्त बन गये। अपने राजनीतिक गुरु के रूप में आप सप्रेजी को मानते हैं। जब तक सप्रेजी जीवित थे, 'एक भारतीय आत्मा' सदा उनके अनुचर बने रहे, और आज भी 'कर्मवीर' पर 'स्व० पं० माधवरावजी सप्रे की स्मृति में' यह वाक्य छापकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रहे हैं।

धीरे-धीरे खंडवा में एक छोटा-सा, किंतु क्रियाशील, क्षमताशाली साहित्यिक-दल तैयार हो रहा था। इस दल में 'एक भारतीय आत्मा'

के अतिरिक्त स्वर्गीय माणिकचंद्र जैन, श्री कालूराम गंगराड़े, पं० रामलाल राजवैद्य, श्री चंपालाल चौहरी, श्री तोताराम पारगीर आदि सज्जन थे। धर्माध्यक्ष पं० विहारीलाल दाधीच भी उनमें प्रमुख थे, और 'एक भारतीय आत्मा' के खास प्रेरकों में से थे। इनमें अधिकांश नौजवान थे। बाबू माणिकचंद्रजी तो ऐसे उत्साही साहित्यप्रेमी थे कि इन्होंने यहाँ 'हिंदी-ग्रंथ-प्रसारक-मंडली' की स्थापना की थी, जिसके द्वारा प्रथम-प्रथम 'मिश्रबंधु-विनोद' और 'हिंदी-नवरत्न' नामक दो ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था। मौलियर के नाटक का अनुवाद और प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा द्वारा किया गया कवींद्र रवींद्र के 'समाज' नामक बँगला-पुस्तक का अनुवाद भी इसीसे प्रकाशित किया गया था। श्री कालूराम गंगराड़े के संपादकत्व में इसी समय 'प्रभा' निकली, जिसके संपादन-विभाग में 'एक भारतीय आत्मा' भी थे, और पीछे तो संपादकों में इनका नाम भी छपने लगा। 'प्रभा' निकलते ही आपने स्कूल की मास्टरी छोड़ दी और अपना पूरा समय इसके संपादन और संचालन में देने लगे। 'प्रभा' ने इनकी प्रतिभा को और भी चमका दिया और इनमें एक सफल संपादक के भी गुण विद्यमान हैं, यह भी प्रकट कर दिया। किंतु, अपने को जब्त करने की भावना अब भी बनी हुई थी कि इसी समय एक ऐसे सज्जन से इनकी भेंट हुई, जो इन्हें घसीटकर जनता के सम्मुख ले ही आये।

संयोग की बात। सन् १९१३ की रामनवमी को 'प्रभा' निकली, और उसी साल विजयादशमी को 'प्रताप'। 'प्रताप' को देखते ही 'एक भारतीय आत्मा' को उसमें कुछ अपनापन-सा जँचा। उन्होंने 'प्रताप' पर अपनी सम्मति भेज दी। उसमें पता रक्खा—C/o पोस्टमास्टर, खंडवा। इसी पते से 'प्रताप' के यशस्वी संपादक का उत्तर आया, जिसमें 'प्रताप' को अपनाने का खास आग्रह था। पत्र द्वारा ही धीरे-धीरे घनिष्टता और सुहृदयता में भी अभिवृद्धि होने लगी। अब एक-दूसरे को देखने की भी उत्कंठा जगी। संयोग से वैसा अवसर भी आ ही गया।

लखनऊ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में हुआ। 'प्रभा'-संपादक 'एक भारतीय आत्मा' भी उसमें शामिल हुए और 'प्रताप'-संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी भी। किंतु, जब तक अधिवेशन होता रहा, दोनों से भेंट-मुलाकात नहीं हुई। सम्मेलन दशहरा की छुट्टियों में हुआ था। उस साल विजयादशमी और मुहर्रम साथ-साथ पड़ता था। मुसलमानों ने इस आकस्मिक घटना को आपस में मिलने का ईश्वरीय संदेश समझा था। समूचा लखनऊ—चाहे हिंदू का घर हो या मुसलमान का—दीपमालिका से आलोकित हो रहा था। उस अपूर्व अवसर का अपूर्व सुख लूटते, दो छोटे-छोटे मित्र-मंडली का नेतृत्व करते, दो युवक, दो दिशाओं से आकर लखनऊ के चौक पर पहुँचे। दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा। एक ने कहा—"आप गणेशशंकरजी हैं", तो दूसरे ने उत्तर दिया—"आप 'एक भारतीय आत्मा' हैं।" दोनों के गले में दोनों की बाहें थीं—सलाम-बंदगी, शिष्टाचार और आधुनिक सभ्यता के नियम-कानून एक ओर रह गये! उसी दिन से दोनों एक ऐसे सूत्र में बँधे कि एक की मृत्यु भी उस सूत्र को नहीं तोड़ सकी। 'एक भारतीय आत्मा' की खूबी उनकी शोक-कविताएँ भी हैं। अपनी धर्मपत्नी, लोकमान्य, सप्रेजी, काँग्रेस-सत्याग्रह के शहीद बिहारी युवक हरदेव सिंह आदि के निधन पर आपने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, वे अमर हैं, अजर हैं। मैंने एक दिन कहा—"आपने गणेशजी पर कुछ नहीं लिखा।" आँखें छलछला उठीं; बोले—"क्या कहूँ, बेनीपुरीजी आज भी लिखने बैठता हूँ, तो आँखों में दल-बादल उमड़ आते हैं, और छाती की धड़कन की बीमारी इस तरह उग्र हो जाती है कि कहाँ का लिखना। देखिये, यदि कुछ दिनों के बाद भावावेश कम हुआ, तो लिखने की कोशिश करूँगा—चाहता तो जरूर हूँ।"

खैर, गणेशजी उस समय आपको खींचकर कानपुर ले गये। वह

स्वयं भी अब खंडवा आने-जाने लगे। जब-जब आते, एक काम जरूर करते। इनके कागज-पत्र, किताबें-कापियाँ, चिट्ठी-पुर्जे उधेड़ डालते और जहाँ भी इनकी कविताएँ पाते, अपने साथ लिये-दिये चले जाते और जब इच्छा होती, छपवाते।

गणेशजी के इस अत्याचार से—यदि इसे अत्याचार कहा जाय तो—हिंदी-संसार का जो उपकार हुआ, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

'एक भारतीय आत्मा' के जीवन में इन्हीं दिनों एक ऐसी अचानक घटना घटी, जिसने इनके समूचे जीवन की धारा की राह ही बदल दी। यह घटना थी इनकी पत्नी की मृत्यु। जब आप चौदह वर्ष के थे, तभी आपका विवाह हो गया था। उस समय देवीजी की उम्र कुल १० वर्ष की थी। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' २८ वर्ष के एक युवक थे, उसी समय १९१४ के दिसंबर में देवीजी का अचानक स्वर्गारोहण हुआ। पत्नी को आप कितना प्यार करते थे, या यों कहिये कि उस सुयोग्या पत्नी ने आपके हृदय पर कैसा स्थान बना लिया था, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इस चढ़ती हुई जवानी में ही पत्नी के चल बसने पर भी आपने दूसरी शादी नहीं की। फिर शादी करने के लिये कुछ कम आग्रह नहीं हुआ। स्वयं गणेशशंकरजी इनसे आग्रह करने के लिये आये थे, और गणेशजी के हठ को मानकर आपने हाँ भी कर दी थी। किंतु गणेशजी को कानपुर पहुँचते न पहुँचते, एक लंबी कविता 'एक भारतीय आत्मा' की ओर से मिली। उस कविता को पढ़कर फिर गणेशजी ने पुनर्विवाह की चर्चा तक नहीं चलायी।

स्वर्गीया पत्नी आपकी कविता की विंदु ही बन गयीं, सो नहीं, आपके जीवन में भी उन्होंने अमिट छाप लगा दी। सदा के लिए रोगी बन गये हुए शरीर के लिए भी मुख्यतः यही घटना उत्तर-

दायी है—कई डाक्टरों और वैद्यों तक ने कहा। मानसिक रुझानों के समझने के लिए भी यह घटना कुंजी-रूप है। 'एक भारतीय आत्मा' को बच्चों से अपार स्नेह है। जितना ही छोटा बच्चा, उतना ही अधिक प्रेम। गोद के बच्चों या पैंजनियाँवाले लल्लों के साथ तो दिन के दिन बिता देना आप का स्वभाव हो गया है। यह स्नेह इस कोटि तक पहुँच गया है कि कितने ही युवक तक आपको अपनी साहित्यिक मा समझते हैं।

इस मातृपद के पाने में आप की पत्नी की मृत्यु प्रधान कारण है। देवीजी बच्चों को बहुत प्यार करती थीं। यद्यपि उन्हें संतान प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ; किन्तु इससे मातृपद प्राप्त करने में उन्हें बाधा न हुई। पतिदेव, 'एक भारतीय आत्मा' मास्टर थे; अतएव स्कूल के बच्चों पर अपने वात्सल्य की वर्षा करने का उन्हें अवसर मिला। उस मातृ-ममता का धरोहर, अपने प्रस्थान के समय, वह भारतीय आत्मा को सौंप गयी हैं। इधर आपने बच्चों पर बहुत-सी कविताएँ भी लिखी हैं, जो उनके मातृ-हृदय की सूचक तो हैं ही हिंदी-साहित्य के लिए भी अनूठी चीज हैं।......

इधर मुख्यतः द्रव्याभाव के कारण 'प्रभा' भी बन्द हो गयी। किंतु, तब तक 'एक भारतीय आत्मा' की कीर्ति प्रांत में फैल चुकी थी, और प्रांत के सार्वजनिक जीवन में भी आप भाग लेने लगे थे। सन् १९१५ में जबलपुर में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति पटने के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शिरोमणि साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा, एम० ए० बनाये गये थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने में आपने पं० माधवराव सप्रे के साथ खूब ही उद्योग किया। आपकी इच्छा तो यहाँ तक थी कि यह सम्मेलन खंडवा में ही हो; किंतु कई

कारणवश ऐसा नहीं हो सका। इसी सम्मेलन में लोगों ने 'एक भारतीय आत्मा' को एक दूसरे रूप में भी देखा।

खंडवा की साहित्यिक जाग्रति का एक रूप था वहाँ का नार्मदीय नाटक-समाज। इस समाज के द्वारा शुद्ध साहित्यिक नाटकों के अभिनय का आयोजन होता था। इसके पात्रों में 'एक भारतीय आत्मा' भी काम करते थे। 'नार्मदीय नाटक-समाज' ने प्रान्त की ओर से होनेवाले जबलपुर के इस साहित्यिक समारोह के अवसर पर एक मौलिक नाटक खेलने का आयोजन किया और खेला भी। उस नाटक का नाम था—'कृष्णार्जुन युद्ध'। कृष्ण और अर्जुन का प्रेम तो जगत्प्रसिद्ध है; फिर यह युद्ध कैसा? यों, एक तो नाम ही आकर्षक, फिर समूचे नाटक की रचना, उसकी भाषा की शैली, उसके गानों की मधुरता, उसके प्लाट की आधुनिकता—इन सबपर हिंदी-संसार के कोने-कोने से एकत्र हुए साहित्यिक रसिक मंत्रमुग्ध हो गये। "इसका रचयिता कौन है?—कौन है इसका रचयिता?" का शोर रंगमंच पर ही मचने लगा। इसी समय एक दुबली-पतली, सीधी-सादी, गोरी-सी युवक मूर्ति वहाँ खड़ी की गयी। तालियों पर तालियाँ बजने लगीं। हर्षध्वनि से रंगमंच गूँज उठा। लोगों ने देखा, यह युवक एक शिल्पी कवि और एक कलाविद् पत्रकार ही नहीं है, एक कुशल नाट्यकार भी है। तब से यह नाटक न जाने कहाँ-कहाँ और कितनी बार खेला जा चुका है। जबलपुर के उस साहित्यिक समारोह के समय ही दो दिन लगातार खेला गया। यदि रंग-मंच की सफलता के साथ-साथ साहित्यिकता पर खयाल किया जाय, तो यह नाटक आज भी अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है।

इस नाटक के साथ ऐसा प्रसंग जुड़ा हुआ है, जिससे नाटककार के प्रति लोगों का सम्मान-भाव ही नहीं प्रकट होता है, वरन् उसके चरित्र का भी विस्फुरण होता है। वह यों है—इस नाटक को देखकर छतरपुर के साहित्य-प्रेमी नरेश भी मुग्ध हो गये थे, और जैसी कि वे प्रायः अपनी

पसन्द के लेखकों के साथ कृपा दिखलाया करते हैं, उन्होंने 'एक भारतीय आत्मा' को छतरपुर में आने के लिए निमंत्रण दिया। जब उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का दूसरा पत्र पहुँचा, तो 'एक भारतीय आत्मा' ने उनके पास एक पत्र लिखा। कहना न होगा कि उस पत्र के बाद फिर निमंत्रण की चर्चा ही न उठी। उस पत्र का एक अंश यों है—

"मैं अत्यन्त उपकृत हूँ कि श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर को, कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक की तुच्छ रचना पसंद आयी। उस नाटक की योग्यता उसके लेखक की नहीं, यह विशेषता छतरपुर-दरबार की ही है, जो वे उस नाटक की भाषा के क्षेत्र अल्हड़ता से पनपनाती हुई रचना से प्रसन्न हुए हैं।

"मैं खद्दरपोश हूँ। दरबारों की तहजीब नहीं जानता। मनुष्य का मनुष्य ही के समान सम्मान करता हूँ। अंतरतम से पूछ-पूछकर बोलने का यत्न करना चाहता हूँ और रहना चाहता हूँ। और, अपने देश पर प्रेम करता हूँ। यदि मेरे इन अपराधों के रहते हुए भी मैं श्रीमान् छतरपुराधीश से मिल सकूँ, तो मैं अपने को भाग्यवान समझूँ।..."

किंतु, जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' की चहुँमुखी प्रतिभा को लोग विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते थे, ठीक उसी समय उस घुन ने, जो पत्नी-वियोग के साथ ही इनके शरीर में प्रवेश करके धीरे-धीरे इनके शरीर को जर्जर कर चुका था, १९१६ में इन्हें शय्याशायी बना दिया। इस समय से पूरे तीन वर्ष तक आप मृत्यु और जीवन के हिंडोले पर बारी-बारी से झूलते रहे। बीमारी की भयंकरता का अनुभव करके श्रीयुत शिवनारायणजी मिश्र एवं गणेशजी इन्हें कानपुर लिवा ले गये, और कानपुर-जैसे बड़े शहर में जितने भी संभव उपचार हो सकते हैं, किये गये। किंतु, रोग समूल नाश नहीं हुआ। एसिड डिस्पेप्सिया—आम्लपित्त की शिकायत थी। शरीर का वजन घटते-घटते ६४ पौंड तक आ पहुँचा

था। कानपुर में भी इन्हें पूर्णतः स्वस्थ न होते देख इन्दौर के नामी चिकित्सक और साहित्यप्रेमी डाक्टर सरजूप्रसाद तिवारी इन्हें इन्दौर ले आये। इन्दौर में एक वर्ष तक रहे। डाक्टर तिवारीजी के हाथों को यश मिला। 'एक भारतीय आत्मा' को मानो नवजीवन मिला।

इसी अर्से में इन्दौर में महात्मा गाँधी के सभापतित्व में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। इस बीमारी की दशा में भी आपने इन्दौर-साहित्य-सम्मेलन के कार्य में यथाशक्ति सहायता दी थी।

१६१६ में बीमारी से छुटकारा पाकर फिर 'एक भारतीय आत्मा' अपनी कर्मभूमि खंडवा पधारे। उसी साल खंडवा में मध्य-प्रांतीय राजनीतिक और साहित्य परिषदें भी हुईं। साहित्य-परिषद् में एक प्रस्ताव पास किया कि इस प्रांत से एक साप्ताहिक पत्र हिंदी में निकाला जाय; क्योंकि तब तक सप्रेजी का 'हिंदी-केसरी' बन्द हो चुका था।

इस अवसर पर डाक्टर मुंजे साहब भी खंडवा पधारे थे। आपने 'एक भारतीय आत्मा' से आग्रह किया कि आप नागपुर चलिये, वहीं से एक पत्र निकाला जायगा। उस समय के डाक्टर मुंजे आपके हिंदू-सभावाले मुंजे नहीं थे—उस समय उनकी गिनती लोकमान्य के प्रधान शिष्यों में होती थी और अपनी ओजस्विता और तेजस्विता के लिए काफी मशहूर थे। आपने उनकी सलाह मान ली होती, यदि उसी अवसर पर पं० विष्णुदत्त शुक्ल ने भी आपसे यह अनुरोध न किया होता कि आप जबलपुर चलिये—वहीं से एक पत्र निकाला जायगा। शुक्लजी की सादगी, निष्ठा, सौम्यता और सज्जनता ने आपको अधिक आकृष्ट किया, और आपने उन्हीं का साथ देना निश्चित किया।

आखिर एक आयोजन हुआ, और लोगों ने 'कर्मवीर' का प्रथम-प्रथम दर्शन किया। इसके सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' (सम्पादक-

रूप—पं० माखनलाल चतुर्वेदी) बनाये गये । 'कर्मवीर' ने आपकी सम्पादन-कला पर 'सफलता की मुहर' लगा दी।

'कर्मवीर' आपको एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में भी जनता के सामने खींच लाया। यद्यपि अपने उग्र राजनीतिक विचारों और पं० माधवराव सप्रे-जैसे लोगों के सहवास के कारण सन् १९०८ से ही अपने घर के आजू-बाजू पुलिसवालों का चक्कर लगाना और जब तब भद्दी आँख-मिचौनी-सा करना आप देखते आ रहे थे ; किंतु 'अब तो बात फैल गयी जाने सब कोई'....

१९२० में 'कर्मवीर' निकला, उस समय जब कि रौलेट एक्ट के कारण समूचे देश का वायुमंडल विक्षुब्ध हो रहा था। दक्षिण-अफ्रिका का 'कर्मवीर' गाँधी, 'महात्मा' गाँधी के नाम से, देश में प्रशान्त क्रांति की समिधा एकत्र कर रहे थे। 'कर्मवीर' ने इस क्रांति का सादर स्वागत किया और मध्यप्रांत के कोने-कोने में इसके संदेश को पहुँचाने का भार अपने ऊपर लिया। 'कर्मवीर' की पंक्तियाँ—चाहे लेख हों या कविताएँ—महाकौशल की प्रसुप्त जनता में जीवन और जागरण का मंत्र फूँक रही थीं। भला, नौकरशाही इसे कब बर्दाश्त कर सकती थी ? सन् १९२१ के जून में आखिर उसने अपना १२४ ए० (राजद्रोह) ब्रह्मास्त्र छोड़ा ही—'कर्मवीर' सम्पादक को आठ महीने की कड़ी कैद की सजा दे दी गयी। 'कर्मवीर' का संचालन अपने योग्य सहकारी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान को सौंप वे जेल चले गये।

१९२१ के उस प्रारम्भिक युग का जेल-जीवन आजकल के ए० और बी० डिवीजन का जेल-जीवन नहीं था। 'एक भारतीय आत्मा' की दुबली-पतली देह के भीतर निवास करनेवाली आत्मा जितनी भी जाँची जा सकती थी, जाँची गई ; किन्तु सोना तपकर कुंदन बनकर निकला।

१९२२ में अपनी सजा भुगतकर आप आये, तब तक विचित्र ही वातावरण देखा। एक तो सन् १९२१ के आंदोलन में जितने की आप उमोद किये हुए थे, वैसा काम मध्य-प्रान्त ने नहीं किया। इधर अब यहाँ स्वराज्य-पार्टी का दौरदौरा था, और जिन श्रीयुत राघवेन्द्रराव के हाथ में प्रांतीय काँग्रेस कमेटी थी, वही स्वराज्य-दल के मध्य-प्रांतीय शाखा के कर्णधार बने हुए थे। सबसे संकट की बात तो यह हुई कि पं० विष्णुदत्त शुक्ल का भी स्वर्गवास हो गया, और 'कर्मवीर' का भाग्यसूत्र भी मि० राव के ही हाथों में था। 'कर्मवीर' एक लिमिटेड कम्पनी के द्वारा संचालित होता था, जिनके पाँच डाइरेक्टर थे—पं० विष्णुदत्त शुक्ल, दीवान बहादुर वल्लभदासजी, गोविंदलाल पुरोहित, व्योहार रघुवीरसिंह और मि० राघवेंद्र राव। जब तक शुक्लजी जीवित थे, तब तक वही इसके कर्ता-धर्ता थे; किंतु उनकी मृत्यु के बाद मि० राव की ही तूती बोलने लगी। मि० राव ने 'एक भारतीय आत्मा' से कहा कि आप 'कर्मवीर' का संपादन तो कीजिये, किंतु स्वराज्य-दल का समर्थन करते हुए। महात्मा गाँधी पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखनेवाले, डाइरेक्ट ऐक्शन के कष्ट सहन करनेवाले पथ को अपना जीवनोद्देश्य समझनेवाले 'एक भारतीय आत्मा' को इस प्रतिक्रिया के मार्ग पर ले आना एक कठिन काम था। आपने एकबारगी 'नाहीं' कर दी। इसपर इनसे कहा गया कि आप इस्तीफा दे दीजिये; किंतु आपने इसको भी अस्वीकार कर दिया। आपका कहना था कि इस पत्र के आदिप्रतिष्ठाता थे पं० विष्णुदत्त शुक्ल। उन्हींके परामर्श से इसकी नीति निश्चित हुई थी, और वह थी काँग्रेस नीति। अब शुक्लजी तो नहीं रहे; किंतु मैं अपने को उनकी स्वर्गीय आत्मा के प्रति जिम्मेवार समझता हूँ, फलतः उनकी नीति पर ही 'कर्मवीर' को चलाऊँगा। यदि आपको यह नीति नापसंद हो, तो मुझे डिसमिस कर दीजिये। मि० राव भी तो एक कैंड़े के आदमी रहे हैं। ऐसा करना

उनके लिये बायें हाथ का खेल था—'एक भारतीय आत्मा' डिसमिस कर दिये गये।

जिस 'कर्मवीर' को आप स्वर्गीय शुक्लजी का धरोहर-रूप मानते थे, जिसके पौधे को आपने अपने कलेजे के खून से सींचा था, जिसके इर्द-गिर्द आपने मध्यप्रांत के तरुणों के एक गिरोह को इकट्ठा कर लिया था, जिसके भविष्य के बारे में आपने कितने ही मनसूबे बाँध रक्खे थे, उसी 'कर्मवीर' से आप डिसमिस करके निकाले गये। 'एक भारतीय आत्मा' का हृदय उस समय चीख उठा था—

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया पलटा दी, प्रबल उमंगों के बल में,
लो, हम तो चल दिये, नये पौधो, प्यारो, आराम करो ;
दो दिन की दुनिया में आये, हिलो-मिलो कुछ काम करो।

किंतु, इसके बाद ही आत्म-विश्वास की ध्वनि में वे कहते हैं—

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं, जो थे बागीचे जाते,
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर बनचर भी खा जाते हैं,
शाखामृग कंधों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबंधु की कृपा, बंधु, जीवित हैं, हाँ हरियाले हैं ;
भूले-भटके कभी गुजरना, हम वे ही फलवाले हैं।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'एक भारतीय आत्मा' की अधिकांश कविताएँ उनके जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं की ओर संकेत रखती हैं। शायद इसी कारण, कभी-कभी कुछ लोगों को उसमें दुरूहता की गंध मालूम पड़ती है। यदि उन प्रसंगों का आभास मिल जाय, तो वे कविताएँ सरल और सुबोध हो जायँ।

१२

'कर्मवीर' ने सन् १९२१ के असहयोग-युद्ध में जो काम किया, सो तो किया ही। उसके उस काल के कामों में एक प्रसिद्ध काम है रतौना में कसाईखाना बनानेवाले आयोजन को बिलकुल व्यर्थ कर देना। मध्यप्रांत के देहात में गुपचुप किये जानेवाले इस हत्याकारी आयोजन को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना देना और आखिर में उसे बंद करा देने के लिये प्रांतीय सरकार को बाध्य कर देना 'कर्मवीर'-जैसे एक देशी भाषा के पत्र के लिये कम गौरव की बात नहीं है!

'कर्मवीर' छोड़ने के बाद 'एक भारतीय आत्मा' होशंगाबाद के देहात में अपने घर पर चले आये और वहीं रहने लगे। कुछ ही दिनों के बाद, सन् १९२३ में नागपुर का झंडा-सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। भला, ऐसे अवसर पर आप कब चूकनेवाले थे—फिर सेठ जमनालाल की बुलाहट भी आ गयी। यों तो आप सेठ जमनालालजी के सहचरों में सदा रहे हैं, और सेठजी से सदा आपको प्रेरणा मिलती रही है; किंतु यह झंडा-सत्याग्रह तो स्वयं अपनी एक प्रेरणा रखता था। आप उसी दम चल पड़े। किंतु, आपके नागपुर पहुँचते-पहुँचते नागपुर-सत्याग्रह के संचालन में लीन प्रायः सभी नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर लिये गये। मध्यप्रांतीय सरकार तुली हुई थी कि येनकेन प्रकारेण इस युद्ध को दबा दिया जाय; किंतु नेताओं की संगठन-बुद्धि तथा बिहार, युक्तप्रांत, मद्रास, गुजरात आदि दूर-दूर प्रांतों की जनता की बलिदान-भावना के कारण सरकार को झुकना पड़ा और अहिंसात्मक संग्राम की विजय हुई। इस विजय-लाभ में 'एक भारतीय आत्मा' के कर्तृत्व और लेखनी का एक अच्छा भाग था।

इसी समय फतहपुर में एक राजद्रोही भाषण देने के अभियोग में 'प्रताप' के प्रतापी सपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी गिरफ्तार किये गये, और उन्हें एक वर्ष की सज़ा हुई। आपने 'प्रताप' का संपादन करने के

लिये 'एक भारतीय आत्मा' का आह्वान किया। जब तक गणेशजी वापस न आ गये, आपने 'प्रताप' के संपादन-कार्य को भली भाँति संपन्न किया। इधर गणेशजी ने एक मासिक पत्रिका भी निकालना शुरू कर दिया था—अपने अन्यतम मित्र 'एक भारतीय आत्मा' की अस्तंगत पत्रिका 'प्रभा' के ही नाम पर। गणेशजी के हाथों में जाकर 'प्रभा' कितनी चमकी, वह तत्कालिन हिंदी के पाठकों से छिपा नहीं है। हिंदी की अपने ढंग की वह अनूठी मासिक पत्रिका थी। राजनीति और साहित्य का उतना सुंदर सम्मिश्रण अन्यत्र देखने में नहीं आया। 'प्रताप' के संपादक होकर आने के बाद 'प्रभा' का 'झंडा-अंक' आप की ही देख-रेख में निकला। आजकल तो विशेषांकों की बाढ़ आयी है; किंतु 'झंडा-अंक'-जैसी चीज देखने को कहाँ मिलती है ?

जब गणेशजी जेल से आये, तब उन्होंने चाहा कि 'एक भारतीय आत्मा' 'प्रताप' के ही परिवार में रहें और मिल-जुलकर 'प्रताप' और 'प्रभा' को चलाया जाय। किंतु, मध्य-प्रान्त की पुकार ने आपको वहाँ नहीं रहने दिया—फिर सतपुड़ा की तलहटी में आ धमके। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' प्रायः कहा करते हैं कि साहब, आप लोगों की गंगा की वह समतल लम्बी चादर-सी एकरस फैली हुई भूमि भी क्या रहने की चीज है—उफ्, वह कितनी गद्यात्मक (Prosaic) है ! देखिये, हमारा प्रदेश—नर्मदा और बेतवा ऐसी धमाचौकड़ी मचानेवाली नदियाँ ; विंध्या और सतपुड़ा की वे नीची-ऊँची तलहटियाँ ; पथरीली, जंगली जमीन—जीवन और कवित्व मानो यहाँ क्रीड़ा करते हैं !

मध्य-प्रांत में आकर सर्वप्रथम आपने झंडा-सत्याग्रह की रिपोर्ट तैयार की। तब तक 'कर्मवीर' मि० राघवेंद्ररावजी के हाथों में जाकर बन्द हो चुका था। अब आपको यह धुन सवार हुई कि उसे फिर निकाला जाय—खासकर पं० माधवरावजी सप्रे आपको बाध्य करने लगे

कि 'कर्मवीर' निकलना ही चाहिये। गर्चे सभी प्रकार के साधनों का अभाव था; किंतु असंभव को संभव बनानेवाले मंसूबे का अभाव तो नहीं था। आपने प्रांत में दौरा शुरू किया। 'कर्मवीर' का बंद होना सबको अखर रहा था—एक जोरदार सुसंपादित पत्र का अभाव भी लोग अनुभव कर रहे थे। अतः, प्रांत के लोगों ने आपके इस आयोजन के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखलायी, और सन् १९२५ के ४ अप्रैल (रामनवमी) से 'कर्मवीर' का पुनः प्रकाशन प्रारंभ हुआ। किंतु, इस बार वह जबलपुर से न निकलकर खंडवा से निकला।

१९२५ से १९३० तक 'कर्मवीर' खूब मजे में चलता रहा। हाँ, इसी बीच इंदौर के भूतपूर्व नरेश और मुमताज-संबंधी आंदोलन चला। इस आंदोलन में 'कर्मवीर' ने काफी भाग लिया। खंडवा से निकलने के कारण मध्यभारत के देशी राज्यों के मसलों की ओर 'कर्मवीर' का ध्यान इस बार विशेष रूप से था, और अब तक है। 'कर्मवीर' को अपनी छोटी उम्र में ही मध्यभारत के एक ऐसे राज्य से लोहा लेना पड़ा, जो सभी राज्यों में प्रमुख स्थान रखता था तथा सब प्रकार के साधनों से लैस था। किंतु, 'कर्मवीर' अपने व्रत पर डटा रहा। 'कर्मवीर' का इंदौर-राज्य में प्रवेश कानूनन बंद किया गया। यही नहीं, 'कर्मवीर' जिनके पास पाया जाय, उन्हें दंड देने की भी व्यवस्था की गयी। जब इससे भी 'कर्मवीर' के 'टोन' में कोई परिवर्तन न देखा गया, तब जिन राजनैतिक दाँव-पेंचों से काम लिया गया, उसका जिक्र यहाँ न करना ही उचित होगा।

इतने ही में १९३० का मस्ताना साल आ गया। फिर 'एक भारतीय आत्मा' की पुकार हुई, और मध्यप्रांतीय सरकार ने एक ही दिन मध्यप्रांत के जिन पाँच नेताओं को गिरफ्तार कर लिया, उनमें एक थे 'एक भारतीय आत्मा'। पाँच-छः हफ्तों के बाद 'कर्मवीर' भी बंद हो गया।

किंतु, १९३१ के मार्च में जेल से छूटे, तब 'कर्मवीर' के पथ में एक विचित्र कठिनाई देखी। तो क्या 'कर्मवीर' बंद होगा ? वृद्ध हड्डियों

में फिर भी एक बार गर्मी आयी और भिड़ पड़े पुनः एक बार। फिर ४ अप्रैल से ही 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरंभ कर दिया गया, और आज वह एक स्वावलंबी पत्र के रूप में प्रांत की और हिंदी की सेवा कर रहा है।

यह तो हुआ संक्षेप में 'एक भारतीय आत्मा' का जीवन-वृत्तांत। उनकी कविता के बारे में मैं जान-बूझकर कुछ नहीं लिखना चाहता। एक तो यों ही लेख काफी लंबा हो गया है, दूसरे कविता-रसिक होने पर भी उसकी समालोचना की 'टेकनिकेलिटीज' से अनभिज्ञ हूँ, और आजकल सिवा एक प्रचलित परम्परा से चलने के दूसरी राह से चलना, खासकर साहित्य-क्षेत्र में, अपने को समालोचना का ही नहीं, उपहास का भी पात्र बनाना है। अगर इतने पर भी उमंगी तबीयत रंग लाई ही, तब कभी फिर देखा जायगा। हाँ, चलते-चलाते 'एक भारतीय आत्मा' के संबंध में एक बात और लिखना मैं आवश्यक समझता हूँ।

जैसा कि इस संक्षिप्त परिचय से पता चला होगा—'एक भारतीय आत्मा' एक कवि ही नहीं हैं, वह एक राजनीतिक पुरुष भी हैं, और हैं एक सफल पत्रकार—Poet, Politician and Journalist, एक ही साथ आप तीनों हैं, और तीनों क्षेत्रों में आप अपना खास स्थान रखते हैं। निस्संदेह एक ही आदमी में यों तीनों गुणों का समन्वय बहुत कम पाया जाता है। एक ही साथ इन तीनों कार्यों का संपादन करते रहने से जीवन में जो जटिलताएँ और गुत्थियाँ पैदा हो सकती हैं, जो कितनों ही के लिये भ्रममयी प्रहेलिकाओं का काम कर सकती हैं—वे 'एक भारतीय आत्मा' में भी पायी जाती हैं। ऊपर-ऊपर से देखनेवालों को इन प्रहेलिकाओं के कारण कभी-कभी असमंजस में भी पड़ जाना पड़े; किंतु जिन्होंने गौर से देखा है, उन्होंने यह पाया कि इनके कारण 'एक भारतीय आत्मा' का व्यक्तित्व और भी मोहक और आकर्षक हो गया है। और इन पाँच महीनों की संगति के फलस्वरूप मैं यह भी कह सकता हूँ कि 'एक भारतीय आत्मा' पहले कवि हैं, और उसके बाद ही राजनीतिज्ञ या

पत्रकार। यदि आप स्वतंत्र भारत में जन्मे होते, तो 'नर्मदा-तट के गायक' के नाम से प्रसिद्ध होते, और शायद सुदूर भविष्य में आपका कवि-रूप अन्य रूपों को इस तरह आच्छादित कर लेगा कि आप इसी रूप में स्मरणीय रह जायँगे—ऐसा मेरा विश्वास है। गर्चें, मैं तो आज भी 'एक भारतीय आत्मा' के इन तीनों रूपों में कवि-रूप को ही ज्यादा पसंद करूँगा। मैं जानता हूँ, तब शायद मध्यप्रांत और मध्यभारत को 'कर्मवीर'-जैसे प्रभावशाली पत्र और महाकोशल को एक ओजस्वी भाषण देनेवाले नेता से वंचित होना पड़े। किंतु, हिंदी का काव्य-विभाग तो निहाल हो जाय और निहाल हो जायँ मेरे-जैसे वे काव्य-रसिक, जो कविता के नाम पर न तो प्राचीन-दरबार-वर्णन और नायक-नायिका-भेद तथा न नवीन 'अप्सरा-नर्तन' और 'मूक रुदन' ही पसंद करते हैं, वरन् जो कविता में राष्ट्र के मदमाते, मस्ती से भरे उस उछलते यौवन का दर्शन करना चाहते हैं, जो काँटों का ताज पहनने, शूलियों को चूमने और असंभव को संभव बनाने की जुर्रत और जोश रखता है। जहाँ तक मैंने उन्हें पढ़ा और सुना है, 'एक भारतीय आत्मा'-की रचनाओं में हमें यौवन के इसी प्रलयकारी प्रवाह का चित्रण मिलता है ; किंतु अफसोस, बहुधंधी कवि की तूलिका के फेर में पड़कर वह चित्र अधूरा ही पड़ा हुआ है। न तो उसे फुर्सत है और 'नवीन' 'सुभद्राकुमारी', 'दिनकर' आदि कुछ को छोड़कर अन्य युवक-युवती कलाकार ही दीख पड़ते हैं, जो इसे पूरा करें।

यद्यपि 'एक भारतीय आत्मा' को आप अपना निर्माण करना पड़ा है, फलतः लगातार युद्ध करते-करते उनमें थकावट—जिसको लोग बुढ़ापा भी कहते हैं—के लक्षण दीख पड़ते हैं (संभव है, 'एक भारतीय आत्मा' इस 'रिमार्क' का खंडन करें) किंतु, उनका कवि अब भी थका नहीं है, उसमें अब भी जवानी शेष है। अतः, यदि इस समय भी इन कार्यों से हाथ समेटकर वह अपने कवि से काम लें, तो भी बहुत कुछ हो सकता है। मैंने हाल ही उनसे पूछा था—"आपने इधर कोई कविता

बनायी है ?" आपने अपनी नोट-बुक मुझे दी। उसमें पहले की दो रचनाएँ हैं—एक तो 'माँ', जो बहुत बड़ी कविता है, और निस्संदेह 'मास्टरपीस' है, और एक यह है—

यह लाली है—
सरकार आपकी कृपापूर्ण जंजीरों के घर्षण से निकले मोती हैं ;
रखवाली है,
हर सिसक और चीत्कारों पर तसवीर तुम्हारी होती है ;
मत खड़े रहो,
ऐ ढीठ, रुकावट होती है, साँसों के आने-जाने में ;
तुममें अरमाँ,
अरमानों में तुम गुँथों नहीं, क्या सुख है धोखा खाने में ?
चुंबन में नहीं पधारो तुम, हर रोज उदार प्रहारों में ।
त्योहार ?—सदा सूली के दिन, मनते आये त्योहारों में ।

क्या इसके आधार पर मेरी उक्त प्रार्थना युक्ति-संगत नहीं है ? किंतु, सवाल तो यह है कि इस फैलाये हुए हाथ-पाँव को कच्छप की तरह समेटा जा सके तब तो ! मैंने इधर 'एक भारतीय आत्मा' की नोट-बुक को खूब उलटा-पुलटा, तो यह पाया कि इनकी अधिकांश सुंदर रचनाएँ जेल की ही लिखी हुई हैं। तभी तो एक बार एक सज्जन ने अपने भाषण में उलाहनापूर्ण शब्दों में कहा था— "एक भारतीय आत्मा' के लिये तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वह बार-बार जेल जायँ।" इस ढलती हुई उम्र में, गलती हुई देह लेकर उनके जेल जाने की निठुर कल्पना तो मुझसे नहीं हो सकती। हाँ, यदि जेल के बाहर ही उनके लिये किसी सेल का प्रबंध किया जा सके, तो मैं उस प्रस्ताव का सानंद समर्थन करूँगा।

—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

बाबू जयशंकर प्रसाद

"जरा किवाड़ खोलकर देख तो सही कि आज इस बे-वक्त कौन दरवाजा खटखटा रहा है?"—प्रसादजी ने आश्चर्यभरी आवाज में नौकर से कहा।

सन् १९३५ का साल था। १९ मई को दोपहर के समय अपने पुराने मकान में लकड़ी के तख्त पर एक तैमद बाँधे, एक पतला-सा कपड़ा शरीर पर डाले प्रसादजी नींद को बुलाने का प्रयत्न कर रहे थे। लू चल रही थी एवं किवाड़ बंद थे, फिर भी गर्मी के मारे उन्हें नींद नहीं आ रही थी; पसीना टपक रहा था, जी घबरा रहा था, आँखें बंद कर-कर खोल रहे थे और बनारस की गर्मी को कोस रहे थे। उसी समय कोई ढाई बजे जब किसी ने उनके मकान का दरवाजा खटखटाया तब तो प्रसादजी चौंक पड़े और नौकर को आवाज दी।

"इस समय भरी दोपहरी में कौन आया होगा?" किवाड़ खोलते हुए नौकर कहने लगा— "लू लगकर आज तो दो-तीन पुलिस के सिपाही भी तो मर गये हैं।"

उस भरी दोपहरी में बनारस की तमतमाती हुई लू में राय कृष्णदासजी, डाक्टर मोतीचंद चौधरी के साथ एक अपरिचित नवयुवक को

अपने दरवाजे पर खड़ा देखकर प्रसादजी अचकचा गये। "इस वक्त•••
प्रसादजी अधिक पूछ न सके। रायसाहब ने आगे बढ़कर प्रसादजी से मेरा परिचय कराया।

अपने उस कौतूहलपूर्ण कौमार्य में जब हाथ लगने पर प्रत्येक पुस्तक को पढ़ डालने की उतावली होती थी और जब कहानियों, उपन्यास और नाटकों के लिये विशेष आकर्षण होता था—और आज भी यह आकर्षण किसी भी प्रकार घटा नहीं है—जब उनके कथानक एवं घटना-वैचित्र्य की ओर ही दृष्टि रहती थी, उन ग्रंथों के लेखकों से कोई काम नहीं रहता था, तब अनजाने ही मैंने प्रसादजी के 'अजातशत्रु' नाटक को पढ़कर रख दिया था। आज मुझे इस बात का स्मरण नहीं कि वह नाटक उस सयम कैसा भाया था; बाद में उसकी कोई भी स्मृति बाकी नहीं रही थी, केवल यही याद रहा था कि 'अजातशत्रु'-नामक कोई नाटक पढ़ा अवश्य था। उन्हीं दिनों 'विशाख' भी छपा था, उसकी प्रति भी हाथ लगी थी; परंतु वह शुष्क प्रतीत हुआ और जब उससे मनोरंजन नहीं हुआ तो उसे अधूरा ही छोड़ दिया। प्रसादजी की महत्ता, उनकी कृतियों की उच्चता एवं उनको जानने की उत्सुकता तब हृदय में स्थान नहीं पा सकी, उनका खयाल भी नहीं आया।

किंतु, जब बरसों बाद सन् १९२७ में खड़ी बोली के कट्टर विरोधी एवं उसके साहित्य को तुच्छ समझनेवाले भी 'सुधा' के प्रथम अंक में समालोचक द्वारा उद्धृत 'प्रसाद' के 'आँसू' के कुछ छंदों को पढ़कर उस कवि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके, तब तो सहसा प्रसादजी के प्रति श्रद्धा का संचार हुआ और उनके 'आँसू' को अनेक बार पढ़ा। नवयुवकों के जीवन में एक वह समय आता है, जब वे प्रेम के प्यासे होते हैं, दूसरों का प्यार पाने को ललचाते हैं, उसके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं; जब उनकी नन्हीं-नन्हीं छातियों में भावुकता का सागर हिलोरें मारता है, उनका छोटा-सा दिल, छोटी-छोटी-सी बातों से ही आहत

हो जाता है ; जब अपने दिल की बात दूसरों से कहने को, अपने छोटे से तुच्छ भेदों को दूसरों को बताने को वे तड़पने लगते हैं ; जब अपने प्यारों से वियोगी की आशंका-मात्र से ही जो तड़प उठता है, एकबारगी गला रुँध जाता है, आँखों में आँसू छलछला आते हैं और जी अनमना हो जाता है, तब जिस जल्दी के साथ मित्रता होती है, कुछ ही क्षणों में अभिन्न-हृदयता स्थापित हो जाती है, एक-दूसरे में प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जाता है, और उतने ही वेग से शत्रुता भी ठन जाती है, बिना किसी खास कारण के एक दूसरे में खिंच जाती है, जीवन भर के लिए मनोमालिन्य हो जाता है, अब जरा-जरा-सी बात पर रूठने में हिचक नहीं होती और जब मानने में भी देरी नहीं लगती, उस भावुकतापूर्ण काल में 'आँसू' के छन्दों ने मेरे दिल पर गहरा रंग जमाया और जो छाप उस समय दिल पर बैठी, वह आज भी मिटी नहीं। अब भी जब कभी जीवन में सूनेपन का-सा अनुभव होता है, जी अनमना हो जाता है, पहलू में कुछ तड़प-सी मालूम होती है, प्रेम में जब विरक्ति का संचार होता है और दूसरों की बेरुखी, उनकी वह स्वार्थ-भावना जब दिल पर चोट पहुँचाती है, तब अनजाने आँखों में आँसू भर आते हैं ; होंठ आप ही आप कहने लगते हैं—

अवकाश भला है किसको सुनने को करुण कथाएँ ;
बेसुध जो अपने सुख से जिनको हैं सुप्त व्यथाएँ।

और, जब दिल आँसू का एक घूँट पीकर संतोष कर लेता है, तब 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ ही दिल को तसल्ली देती हैं।

यही कारण था कि अपने मित्रों को भी अपनी प्यारी वस्तु भेंट करने को जी चाहने लगा था, एवं तब 'आँसू' की कई प्रतियाँ मँगवाकर उन्हें अपने मित्रों में बाँटा, उनके सम्मुख उस कवि की भावुकता की व्याख्या की, अपने दिल पर होनेवाले प्रभाव एवं शांति को भी पूरी

तरह बताया। उस सब प्रचार का क्या प्रभाव हुआ, किसने प्रसादजी की कद्र की, किन-किन दिलों को प्रसादजी के 'आँसू' द्रवित कर सके या शांति-सुधा पिला सके, यह जानने की इच्छा नहीं हुई। तब भी था और आज भी मेरा यही मत है कि प्रसादजी के 'आँसू' का भारतीय साहित्य में बहुत ही उच्च स्थान है। हिंदी-साहित्य की वह अमूल्य निधि और उस कवि की एक अमर कृति है। ऐसी सुन्दर कृति का वह साधारण गेट-अप देखकर खेद होता है। उसका दूसरा संस्करण अधिक अच्छा छपा है; परंतु उसे भी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। मुझे तो उससे भी असंतोष है। उमर खैयाम के सुन्दर सजे हुए सचित्र संस्करण देखकर 'आँसू' को भी वैसे ही सचित्र स्वरूप में देखने को जी ललचाता है। प्रसादजी के उस अमर काव्य के एक-एक पद पर सुंदर भावपूर्ण चित्र बन सकते हैं।

किंतु, इतना सब होने पर भी प्रसादजी की अन्य कृतियों के प्रति विशेष आकर्षण नहीं हुआ; उनकी कहानियाँ और उनके नाटक पढ़े जाने पर भी मेरे लिये अज्ञात वस्तु ही रहे। सन् १९२८ के जनवरी मास में 'सरस्वती' का प्रथम और साथ ही साथ शायद अंतिम वार्षिकांक निकला। उसमें प्रसादजी की 'आकाशदीप' कहानी को सर्वप्रथम स्थान दिया गया था। प्रेमचंदजी उस समय मेरी श्रद्धा एवं आदर के पात्र बन चुके थे; अतएव उनसे भी पहले प्रसादजी की कृति को स्थान पाते देखकर आश्चर्य हुआ। 'आकाशदीप' को एक-दो बार पढ़ा; परंतु उस समय न तो उस प्रकार की कहानी की सुन्दरता एवं उसके कथानक के तारतम्य को समझने की बुद्धि ही थी और न उसके लिये प्रयत्न करने का धैर्य ही। 'सरस्वती' द्वारा उक्त कहानी को सर्वप्रथम स्थान दिये जाते देखकर प्रसादजी के प्रति श्रद्धा अवश्य बढ़ी; परंतु तब भी उनकी महत्ता को नहीं समझ सका। वे तब भी जन-समाज के कहानी-लेखक नहीं बन पाये थे। उनकी प्रारंभिक कहानियाँ इसी कारण

भावपूर्ण एवं सुन्दर होते हुए भी साधारण पाठकों के मनोरंजन की वस्तु नहीं बन सकीं। बरसों बाद जब प्रसादजी ने उपन्यास-रचना के लिये हाथ बढ़ाया, तब उनकी कहानी-लेखन-कला में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। प्रसादजी की भावुकता, विशिष्ट भाषा-शैली एवं काव्य के प्राधान्य ने तब भी अपना प्रभाव नहीं छोड़ा, किंतु तब घटना-वैचित्र्य, कथानक में एक अबाध प्रवाह एवं भाषा की सरलता आये बिना नहीं रह सकी। 'आकाशदीप' और 'आँधी' की कहानियों में पायी जानेवाली विशिष्ट विभिन्नताओं का यही मुख्य कारण है।

यद्यपि इधर पिछले चार सालों से मैं यदा-कदा हिंदी में लेख लिखने लगा था और हिंदी की ओर मेरा झुकाव भी बढ़ने लगा था; परंतु सन् १९३० के अंतिम महीनों में ही मैंने पहली बार प्रसादजी की कृतियों का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त किया। आधुनिक हिंदी-साहित्य से परिचय प्राप्त करने एवं हिंदी-गल्प-साहित्य का पूरा-पूरा अध्ययन करने का मैंने निश्चय किया था। तभी मैंने तब तक प्रकाशित प्रसादजी की सब कृतियों को मँगवाया और उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ा। तब जाकर प्रसादजी के महत्त्व का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। प्रसादजी की कहानियों का पूरा-पूरा अध्ययन किया और उसी जोश में मैंने प्रसादजी की कहानियों के सद्यः प्रकाशित गल्प-संग्रह 'आकाशदीप' की एक विस्तृत आलोचना भी लिख डाली। उन्हीं दिनों पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'आकाशदीप' की आलोचना करते समय 'विशाल भारत' में कई ऐसी बातें लिख डाली थीं, जो मुझे तो पूर्णतया ऊटपटाँग ही जान पड़ीं और यह भी खयाल हुआ कि चतुर्वेदीजी ने प्रसादजी के प्रति अन्याय किया था। तब प्रसादजी की कला एवं उनकी कहानियों के ठीक-ठीक महत्त्व को बताने एवं कूतने का मैंने प्रयत्न किया था। वह आलोचना 'सुधा' में प्रकाशित हुई थी। उस प्रारंभिक जोश में लगे हाथ उस समालोचना की एक प्रति प्रसादजी के पास भेज देने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। परंतु, जैसा कि

प्रसादजी का नियम था, वे अपने गंभीर मौन को बनाये रहे और यदा-कदा श्रीयुत विनोदशङ्करजी व्यास के द्वारा ही प्रसादजी की कुछ खबर पाकर मुझे संतोष कर लेना पड़ा।

प्रसादजी अपने इस अज्ञात, अपरिचित समर्थक की ओर भी मौन रहे, यह बात दिल को अखरी। परंतु, बाद में प्रसादजी का मेरे प्रति रुख बदल गया और कुछ ही वर्षों बाद, शायद सन् १९३४ ई० से ही, उन्होंने यह नियम बना लिया था कि ज्यों ही उनकी कोई नई पुस्तक छपकर तैयार होती, उसकी एक प्रति पर हस्ताक्षर कर मेरे पास भिजवा देते थे। (उन्होंने इसमें कभी भूल नहीं की, अपने प्रकाशकों तक को उन्होंने इस बात की हिदायत कर दी थी एवं कई बार दो-दो प्रतियाँ आ जाती थीं।) प्रसादजी की वे सप्रेम भेंटें मेरी एक अमूल्य निधि हैं। बीमार पड़े थे, स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता जा रहा था—और वही बीमारी उनकी अंतिम बीमारी हुई—तथापि प्रसादजी ने यथानियम अपने अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' की एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर भेज दी थी। प्रसादजी की इस कृपा को, उनके इस स्नेह को, मैंने आशीर्वाद के रूप में ही स्वीकार किया था।

प्रसादजी अपनी कृतियाँ मेरे पास बराबर भिजवाते रहे; परंतु वे पत्र कम लिखते थे। इधर पिछले एक-दो वर्षों में ही उनके कुछ पत्र आये थे। वे व्यर्थ के पत्र-व्यवहार से पूर्णतया बचते रहते थे। जो पत्र उनके आते थे, वे बहुत ही संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों के होते थे। प्रसादजी ने इन ऊपरी बातों को कभी महत्त्व नहीं दिया और यही कारण था कि जो व्यक्ति उनसे कभी न मिला हो, उसके हृदय में प्रसादजी के प्रति गलत भावना हो जाना, एक अनहोनी बात न थी।

प्रसादजी के समान लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति से मिलने को कौन उत्सुक न होगा? परंतु, प्रसादजी हमेशा बाहरी आडंबर एवं ऊपरी दिखावट से दूर ही रहे, जिससे एक अनजान व्यक्ति के लिये उनके व्यक्तित्व में

विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। यही कारण था कि प्रसादजी से मिलने के लिये मुझे विशेष उत्सुकता नहीं थी। बनारस जाकर भी प्रसादजी से मिलने की न सोचना एक भयंकर अपराध से कम नहीं था। परंतु, यही खयाल जी में घर कर गया था कि प्रसादजी बहुत ही रूखे-सूखे, एकांतसेवी साहित्यिक व्यक्ति हैं। 'आँसू' के लेखक को एक हृदय-विहीन व्यक्ति मानना कुछ असंभव-सा प्रतीत होता था; परंतु प्रसादजी की वह संस्कृत-प्रधान भाषा और उनके वे बौद्ध-कालीन नाटक मुझे संस्कृत के कट्टर पंडितों और मुँडे हुए सिरवाले भिक्षुकों की याद दिलाते थे। उन पंडितों की वह नीरसता, अपनी विद्वत्ता पर उनका अगाध अभिमान, दूसरों को निरंतर उपदेश देने की वह प्रवृत्ति एवं संस्कृत न जाननेवालों के प्रति उनका तीव्र तिरस्कार एकबारगी याद आ जाता था। प्रसादजी के व्यक्तित्व के साथ उनका संबंध-सा जान पड़ता था और आप ही आप प्रसादजी के पास जाने में कुछ हिचक पैदा होने लगती थी।

पुनः प्रसादजी के जो चित्र देखने को मिले थे—श्रीयुत व्यासजी की कृपा से प्रसादजी का एक चित्र उनके हस्ताक्षर समेत मुझे भी प्राप्त हो गया था—उनसे प्रसादजी की गंभीरता ही प्रदर्शित होती थी। प्रसादजी तक पहुँचकर कोई भी मनोरंजन होने की संभावना नहीं देख पड़ती थी। प्रसादजी से मिलने के बाद मेरा यह निश्चित मत हो गया कि प्रसादजी का जो चित्र, उनका जो व्यक्तित्व हमें उनकी कृतियों या उनकी तस्वीरों में देखने को मिलता है, वह उनके सच्चे व्यक्तित्व से बहुत ही भिन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपना चित्र उतरवाते समय प्रसादजी हमेशा (Camera conscious हो जाते थे—चित्र उतरवाने के खयाल से ही वे) गंभीर बन जाते थे। प्रसादजी का वह हँसमुख चेहरा, उनकी वह आनंदभरी बातचीत एवं प्रफुल्ल व्यक्तित्व उनसे मिलनेवालों एवं उनके परिचितों तक ही सीमित रहा। जिन्हें कभी

उनसे मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, उनके लिये प्रसादजी के स्वभाव का ठीक-ठीक अन्दाज लगाना कठिन ही नहीं, असंभव था।

'भारत-कला-भवन' को देख चुकने के बाद जब लौट रहे थे, तब रायसाहब ने पूछा—"क्या प्रसादजी से मिले हो?"

मैंने जवाब दिया—'नहीं' और साथ ही पूछा भी कि "क्या वे यहीं हैं?"

"प्रसादजी बनारस छोड़कर कहीं नहीं जाते। क्यों न अभी चले चलें?"

सो उस भरी दोपहरी में 'भारत-कला-भवन' से हम सब निकले; कुछ दूर तक मोटर में गये और गली के कोने पर मोटर को छोड़कर प्रसादजी के मकान की ओर पैदल ही बढ़े। दरवाजा खटखटाया। जब रायसाहब ने मेरा परिचय कराया, तब तो उन्होंने अपने नये मकान को खुलवाने के लिये नौकर दौड़ाया और हमारा आतिथ्य करने के लिये भी वे प्रयत्नशील हुए। तीसरा पहर हो रहा था; ताजे अनार का शरबत बनवाया और बनारसी पान की गिलौरियाँ भी आयीं।

वहीं उस नये मकान में बैठकर कोई दो घंटे तक बातचीत होती रही। प्रसादजी से मेरी वही प्रथम और अंतिम भेंट थी। उस समय तो कभी यह खयाल भी नहीं हो सकता था कि वह भेंट ही मेरी अंतिम भेंट होगी। प्रसादजी को मेरे 'आकाशदीप' वाले लेख का स्मरण हो आया और उसका उन्होंने उल्लेख भी किया। उसी सिलसिले में मैंने इस बात का प्रयत्न किया कि प्रसादजी से उनके स्वयं के बारे में कुछ बातचीत हो, परंतु प्रसादजी उसे टाल गये, और विशेषतया मेरे ही बारे में पूछते रहे। रायसाहब ने तब बताया कि किस प्रकार प्रसादजी को मेरे 'ताज', 'एक स्वप्न की शेष स्मृतियाँ' आदि लेख पसन्द आये थे और प्रसादजी ने ही रायसाहब का ध्यान उन लेखों की ओर आकर्षित किया था।

इधर-उधर की बातचीत होती रही और तब रायसाहब ने इस बात का विशेष आग्रह किया कि प्रसादजी अपने महाकाव्य 'कामायनी' के अंश मुझे सुनावें। 'कामायनी' के कई अंश यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके थे ; उनकी बहुत कुछ प्रशंसा भी हुई थी। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय तक 'कामायनी' के नौ सर्ग लिखे जा चुके थे। रायसाहब प्रसादजी से आग्रह कर रहे थे कि वे इस महाकाव्य को समाप्त कर दें और प्रसादजी का विचार था कि जितना भी अंश तैयार हो गया था, उसे पहले भाग के रूप में छपवा दें। मेरी निजी राय यह थी कि सारा महाकाव्य एक साथ ही छपे, और यही बात मैंने प्रसादजी से भी कही, तो वे अपनी अस्वस्थता एवं अन्य घरेलू झंझटों का जिक्र करने लगे। इस प्रकार 'कामायनी' के बारे में बातचीत होती रही। उस समय भी मेरा निश्चित मत यही था और अब तो वह दृढ़तर होता जा रहा है कि प्रसादजी का यह महाकाव्य इस युग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। हिंदी के लिये यह एक सौभाग्य की बात थी कि प्रसादजी अपनी इस महान् कृति को सम्पूर्ण कर गये। इन पिछले बरसों में कई व्यक्तियों ने खड़ी बोली में अनेकानेक महाकाव्यों की रचना की है; परंतु उनमें से कितने महाकाव्य स्थायी साहित्य में स्थान पा सकेंगे, यह समय ही बता सकेगा। परंतु, इस बारे में कभी दो मत नहीं हो सकते कि 'कामायनी' को अमर साहित्य में स्थान मिलेगा। वह हिंदी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

'कामायनी' के बारे में बातें होती रहीं और प्रसादजी उसकी हस्तलिखित प्रति हाथ में दबाये बैठे रहे। रायसाहब के आग्रह को वे टाल गये; परंतु जब मैंने विशेष आग्रह किया, तब उन्होंने सकुचाते हुए उस हस्तलिखित प्रति को खोला और कुछ शब्दों में उसके कथानक को समझाने के बाद वे उस महाकाव्य के प्रारंभिक अंश को पढ़ने लगे। प्रसादजी पढ़ते जाते थे और हम सब शांत सुन रहे थे। मैं बैठा-बैठा

प्रसादजी को ताक रहा था ; उनको निकट से देखने का, उनके व्यक्तित्व को ठीक तरह जानने और उसका पूर्ण परिचय पाने का अवसर मिला था। कवि के ही मुख से उसी के द्वारा रचे गये महाकाव्य को सुनने का अवसर कितनों को प्राप्त होगा ? 'कामायनी' को सुनते-सुनते मुझे अँगरेजी भाषा के महाकवि मिल्टन एवं उसके अमर काव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' का खयाल आया। प्रलय-प्रवाह में से निकलती हुई पृथ्वी एवं पुनः उसके बसने की कथा भारतीय साहित्य का वह अमर तपस्वी गा रहा था और मैं बैठा सोच रहा था कि मनु का वर्णन करते समय प्रसादजी स्वयं का कितना अच्छा वर्णन लिख गये हैं—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान ;
नीचे प्रलय-सिंधु-लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

पवित्र भगवती गंगा के किनारे वाराणसी में बैठा वह युवा तपस्वी देवी सरस्वती का वह वरद पुत्र, धूनी रमाये अपने अमर गान गा रहा था। उस किनारे पर साहित्यिकों तथा तपस्वियों के उस श्मशान में बैठा वह अमर गायक देखता था कि वासनाओं का तुमुल अंधड़ उठ-उठकर फैल रहा था ; भौतिकता का वह प्रलयंकर प्रवाह भीषण वेग के साथ उमड़ रहा था और भावुकता की वे सुकुमार सुंदर तरंगें जड़ जगत् के कठोर तट पर टकरा-टकराकर छिन्न-भिन्न हो रही थीं, और वह तपस्वी—

[वह] पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह ।

समय अधिक हो गया था, साढ़े चार बजने वाले थे ; उधर मोटर-वाला स्टेशन पर लौटने के लिये जल्दी मचा रहा था। प्रसादजी से बिदा ली और लौटते समय इस बात का मन ही मन अनुभव किया कि

यदि प्रसादजी से मिलना न होता तो एक बहुत ही बड़ा सुअवसर खो देता। आज उन घड़ियों को स्मरण कर रायसाहब को धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। उस दिन रायसाहब ने प्रेमचंदजी के लिये भी पूछताछ की थी; परंतु ज्ञात हुआ कि वे अपने गाँव चले गये थे। उस दिन प्रेमचंदजी से न मिल सका और बाद में दूसरा अवसर नहीं आया। अगर उस दिन प्रसादजी से न मिलता, तो फिर उनसे भी मिलने का अवसर नहीं मिलता। प्रेमचंदजी से न मिलने का खेद रह गया है और तब प्रसादजी के भी दर्शन न कर सकने का अफसोस रह जाता। प्रसादजी से जिनका निजी परिचय था, वे ही जानते हैं कि प्रसादजी से एक बार मिलते ही किस प्रकार अनजाने ही उनके प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी।

'कामायनी' छपकर प्रकाशित हो गयी और उसकी प्रति पाकर उस महान् रचना के लिये महाकवि को बधाई भी दी; परंतु तब कौन जानता था कि वह ग्रंथ ही प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ ही नहीं, अंतिम कृति भी होगा। उस समय प्रसादजी बीमार होकर बिस्तर पर पड़ चुके थे। प्रसादजी की अस्वस्थता की खबरें अखबारों में छपने लगीं और उनके मित्रों, प्रेमियों और प्रशंसकों ने प्रसादजी से बार-बार आग्रह किया कि वे अपना समुचित इलाज करवावें और बनारस छोड़कर हवा बदलने को किसी दूसरे स्थान को चले जावें। परंतु, नहीं। प्रसादजी को बनारस छोड़ना मंजूर न था। उन्होंने किसी की न सुनी और न मौत ने ही किसी की प्रार्थना पर ध्यान दिया। बीच में आशा होने लगी थी कि वे अच्छे हो जायँगे; परंतु 'आँसू' का वह गायक अनुभव कर रहा था कि—

चेतना लहर न उठेगी जीवन-समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

प्रसादजी के मित्रों ने, प्रेमी साथियों ने उनको धीरे-धीरे मरते देखा। उनका बरसों का साथ छूट रहा था, वे बेबस बैठे देख रहे थे। उन्हें शायद यह ज्ञात हो गया था कि अब प्रसादजी कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। परंतु, जो बनारस से सैकड़ों कोस दूर थे, जिन्हें पूरी-पूरी हालत का पता न था, उन्हें फिर भी आशा थी। परंतु, जब अचानक एक दिन वह दुःसंवाद अखबार में पढ़ने को मिला, तो जी धक् से रह गया ; जीवन में सूनेपन का अनुभव हुआ और पुनः उन घड़ियों की याद आयी, जब 'आँसू' ने जी को यदा-कदा तसल्ली दी थी। महीनों के उन चिंतापूर्ण दिनों की—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आयी।

दो आँसू ढलक पड़े और एकांत में जाकर मैं उस दुर्घटना की बात सोचने लगा।

"नहीं ! नहीं ! मैं नहीं मानता।"

एक साल भर के बाद अभी इंगलैंड से लौटे हुए मेरे छोटे भाई ने कहा—"मैं नहीं मान सकता कि प्रसादजी मर गये।"

"मानो या न मानो, यह एक कठोर सत्य है कि अब प्रसादजी नहीं रहे।"

"सचमुच ! तुमने तो मुझे इस बात की सूचना नहीं दी। किसी भी पत्र में इसका कोई उल्लेख नहीं किया।"

"तुम्हीं बताओ कि किस दिल से इस बात का ढिंढोरा पीटता।"

—डा० रघुवीर सिंह

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

"निस्संदेह वह लड़ाई का पक्षपाती था। जब से उसने होश सँभाला, तभी से जीवन की कठिनाइयों से लड़ाई छेड़ दी। यह लड़ाई जारी थी—वह अभी तक जारी है—कि उसने देखा, तरह-तरह की सत्ताएँ मिलकर मनुष्यता को पीस रही हैं। उसके दिल में आग लग गयी। उसने इन सत्ताओं से भी लड़ाई ठान दी। लोग इस दुबले-पतले और साधनहीन युवक के साहस को देखकर हँसे। कहने लगे—'पागल है!' लेकिन, दिन जाते देर न लगी—हँसनेवाले भौंचक्के रह गये। उसका प्रताप चारों ओर फैलने लगा। सत्ताधारी काँपने लगे। उन्होंने अपने प्रहार शुरू किये। चेतावनियाँ दी गयीं। जमानतें ली गयीं। बुलावे आये। धमकियाँ भी धमकीं। तलाशियाँ हुईं, और जब्ती ने भी अपना काम किया। रोक-थाम हुई! जेल की हवा भी खिलाई गयी। लेकिन, वह लड़ाई का पक्षपाती था! उसने इन सब प्रहारों को खुशी से सहा, और अपनी लड़ाई जारी रक्खी।" ये सतरें अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के संबंध में उनके दूसरी दफे जेल जाने के बाद लिखी गयी थीं। लोग कह सकते हैं कि क्या हुआ, यह तो उनके किसी मित्र ने भावुकता में आकर लिख दिया होगा। परंतु नहीं, ये लाइनें भावुकता में नहीं लिखी गयी हैं, प्रत्युत

बहुत सोच-समझकर लिखी गयी हैं, और दरअसल उस महान् आत्मा के जीवनोद्देश्य तथा उसके सदा के आचरण की परिचायिका हैं। इसकी पुष्टि हम, आप या दूसरे लोग क्या करेंगे? इसका प्रमाण मैं स्वयं उसी वीरात्मा के शब्दों में यहाँ देता हूँ। १९२३ ई० में फतेहपुर-जिला-राजनीतिक सम्मेलन के सभापति के सिंहासन से खड़े होकर उन्होंने घोषणा की थी—"मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो, या जमींदारों की; धनवानों की हो, या ऊँची जातियों की।"* यही नहीं, यह तो कई वर्ष पहले की बात है। एक ताजी, बहुत ताजी, मिसाल भी लीजिये। २९ जनवरी, १९३१ की अपनी जेल-डायरी में श्रद्धेय विद्यार्थी-जी ने इस प्रकार लिखा है—"अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा, और ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।" इस एक वाक्य में उस बहादुर लड़ाके के, लड़ाई के उस शानदार पक्षपाती के जीवन का खाका खिंच जाता है, झलक मिल जाती है। दरअसल उसके जीवन का यही मूल-मंत्र था, और किसे संदेह है कि उसने अपने इस मूल-मंत्र की रक्षा के लिये, अपने इस आदर्श के पालन के लिये अपनी जिंदगी की एक-एक घड़ियाँ नहीं बितायीं, और अंतिम श्वास तक वह नहीं लड़ता रहा। वह तो इसी सिद्धांत पर, इसी आदर्श पर बलिदान हो गया, आत्माहुति दे डाली। कानपुर में गत २५ मार्च को अमानुषिकता और असज्जनता का जो तांडव-नृत्य हो रहा था, ४० वर्ष के उस बाँके लड़ाके से यह कैसे देखा जाता? उसने अमानुषिकता और असज्जनता को ताल ठोंककर ललकार बतलायी, बहुत देर तक उसकी जीत रही, वह बाजी मारता गया; पर अंत में जीवन-भर के उस विजय को अमानु-

---

* इसी भाषण के संबंध में आप को १५ महीने की सख्त कैद की सजा हुई थी।

षिकता से मात होना पड़ा। यद्यपि उसका यह मात होना, उसकी यह हार, उसके हिंदू-मुसलमान-ऐक्य के तथा भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में सदा के लिये स्वर्णाक्षरों में लिख गया !

विद्यार्थीजी का जन्म उनके ननिहाल में प्रयाग के अतरसुइया-मोहल्ले में, क्वार सुदी १४ रविवार संवत् १६४७ (सन् १८६० ई०) को, नौ बजे रात में, हुआ था। जब वह गर्भ में थे, तब उनकी नानी ने एक स्वप्न देखा कि उनके हाथ में किसी ने गणेशजी की मूर्ति दी है। इस स्वप्न के अनुसार उन्होंने निश्चय कर लिया कि उनके जो दौहित्र होनेवाला है, उसका नाम गणेश रक्खा जायगा; पर यदि कन्या हुई, तो उसका नाम गणेशी होगा। गर्भ से लड़का ही पैदा हुआ, और पूर्व निश्चयानुसार उसका नाम गणेश रक्खा गया। जन्म के समय गणेशजी की आँखें बहुत छोटी-छोटी थीं, और माताजी को चिंता थी कि ऐसा न हो, इसे सूझ ही न पड़े; परंतु धीरे-धीरे आँखें ठीक हो गयीं। गणेशजी का जन्म उनके परिवार के लिये हर प्रकार से शुभसूचक हुआ। उनके पिता की वेतन-वृद्धि भी हो गयी।

श्रीगणेशशंकरजी के पिता श्रीजयनारायणजी हतगाँव जिला फतेहपुर के निवासी थे। उर्दू और फ़ारसी खूब जानते थे। अँगरेजी का अध्ययन उन्होंने स्वयं किया। ज्योतिष की बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। विद्यार्थीजी जब ५ वर्ष के थे, उस समय वह ग्वालियर-रियासत के मुंगावली नामक स्थान में ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल के सेकेंड मास्टर थे। विद्यार्थीजी का बचपन वहीं बीता और शिक्षा का श्रीगणेश भी वहीं हुआ। पाँच वर्ष की उम्र में पिताजी ने विद्यार्थीजी को उर्दू पढ़ाना शुरू कराया। बाद को अँगरेजी भी शुरू कराई। सन् १६०२ ई० में, अर्थात् जब गणेशशंकरजी की उम्र १२ साल की थी, उनके पिताजी की बदली

भेलसा हो गयी, और इस कारण विद्यार्थीजी भी उनके साथ कुछ दिन वहाँ रहे। १९०५ ई० में उन्होंने अँगरेजी मिडिल पास किया। मिडिल में विद्यार्थीजी ने हिंदी द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ी। १९०७ ई० में पिताजी का तबादला भेलसा से फिर मुंगावली हो गया। आप यहाँ पर यहाँ के हेडमास्टर श्रीकानकुँवरजी से प्राइवेट तौर पर पढ़ते रहे, और प्राइवेट-रूप से ही इंट्रेंस की परीक्षा दी। आपकी इंट्रेंस की परीक्षा का केंद्र कानपुर का क्राइस्ट चर्च कालिज था। १९०७ ई० में आप द्वितीय श्रेणी में इंट्रेंस पास हो गये। इंट्रेंस में आप की दूसरी भाषा फारसी थी।

अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की मनोवृत्ति उनमें बचपन से ही थी। छोटी सी छोटी बात में भी मनुष्य के चरित्र की महानता की परख होती है, और उससे पता चलता है कि वह किस धातु का बना हुआ है, वह दुनिया में क्या कर सकेगा। पहले पोस्ट-कार्ड का टिकट (स्टाम्प) काटकर किसी कागज या सादा पोस्ट-कार्ड पर लगाना कानूनन जायज था। एक बार इसी प्रकार का एक पोस्ट-कार्ड बैरंग कर दिया गया। गणेशशंकरजी को यह बात खली। उन्होंने इसका विरोध करने के लिये एक पोस्ट-कार्ड का स्टांप काटकर एक दूसरे कागज पर चिपकाया, और अपने नाम पर उसे लेटर-बक्स में डाल दिया। पोस्ट-कार्ड बैरंग होकर उनके पास आया। पैसा देकर उन्होंने पोस्टकार्ड ले लिया, और पोस्ट-मास्टर के यहाँ तुरंत इसकी शिकायत की। इस संबंध में खूब लिखा-पढ़ी हुई, और अंत में डाक-विभाग के अधिकारियों को अपनी गलती मंजूर करनी पड़ी तथा उनका पैसा वापस किया गया। यह घटना उस समय की है, जब विद्यार्थीजी निरे विद्यार्थी थे—मिडिल में पढ़ते थे।

समाचार-पत्र तथा मासिक पत्रिकाएँ पढ़ने का शौक आप को बचपन से ही था। 'भारत-मित्र' और 'वंगवासी' मँगाकर स्वयं पढ़ते तथा अपने साथी लड़कों को सुनाया करते। इंट्रेंस पास करने के पहले ही आपने

'सरस्वती' की उस समय तक निकली पूरी फाइल पढ़ डाली थी। पत्रकार-कला की ओर आपकी स्वाभाविक अभिरुचि थी, और यही कारण था कि जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने के थोड़े ही दिनों बाद आप इस लाइन में प्रविष्ट हो गये तथा अपने जीवन का सर्व-प्रधान कार्य पत्र-संपादन ही रक्खा। अंत तक—मरने के समय तक—आप पत्रकार रहे और ऐसे पत्रकार रहे, जिसका सानी हिंदी-पत्रकारों में कम से कम मुझे तो कोई दिखाई नहीं पड़ता। अध्ययनशीलता का तो कहना ही क्या। यह आपकी अध्ययनशीलता का ही फल था कि एक इंट्रेंस पास-मात्र व्यक्ति अपने स्वाध्याय के बल पर इतना बड़ा, योग्य और उत्कृष्ट संपादक तथा एक ज्ञान-वृद्ध व्यक्ति बन गया।

इंट्रेंस पास करने के बाद १९०७ ई० में ही आप कायस्थ-पाठशाला कालिज, इलाहाबाद में भर्ती हो गये, और सात-आठ महीने मुश्किल से वहाँ पढ़ पाये थे कि आर्थिक कठिनाइयों और गृहस्थी के झंझटों के कारण आपको अपना पढ़ना बंद कर देना पड़ा। विद्यार्थीजी किसी प्रकार अपना पढ़ना बंद नहीं करना चाहते थे। विद्या हासिल करने और ज्ञान-वृद्ध होने की उन्हें बड़ी उत्कंठा थी; परंतु परिस्थितियों के आगे उन्हें सर झुकाना पड़ा। मनुष्य सोचता कुछ है, और होता कुछ और ही है।

पढ़ना छोड़कर आप इलाहाबाद से कानपुर आ गये, और यहाँ के करेंसी आफिस में नौकरी कर ली। करेंसी में अपना काम बड़ी सचाई और मेहनत से करते तथा काम से फारिग होने पर अगर कुछ समय मिल जाता, तो बैठे-बैठे पढ़ा करते। एक दफे उन्हें नोट जलाने का काम मिला। वह उसके जलाने का उचित प्रबंध कर वहीं किताब लेकर बैठ गये। नोट जलाने की तरफ भी खयाल था, इधर कुछ पढ़ते भी जाते थे। इतने में करेंसी का अँगरेज अफसर आया और इनसे कई प्रश्न पूछे। यह भी उसका माकूल जवाब देते रहे। वाद-विवाद के बीच उसने कहा—"मैं अपने अधीन लोगों का निरंकुश शासक हूँ।" विद्यार्थीजी

से यह बात क्योंकर सही जाती ? आपने झट इस्तीफा दिया और वहाँ से चलते बने। इसके बाद आप कानपुर ही के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में अध्यापक हो गए। उन दिनों श्रीसुंदरलालजी के 'कर्मयोगी' की धूम थी। वह एक बड़ी भयानक चीज समझी जाती थी। विद्यार्थीजी उसे सदा पढ़ते थे। कभी-कभी स्कूल भी अपने साथ लेते जाते। एक दफे स्कूल में छुट्टी के समय क्लास में बैठे 'कर्मयोगी' पढ़ रहे थे। हेडमास्टर साहब ने आकर देखा, और क्लास में उसके पढ़ने पर आपत्ति की। कुछ विवाद हो चला और विद्यार्थीजी ने यहाँ भी त्याग-पत्र दे दिया। जिन दिनों आप कायस्थ पाठशाला कालिज, इलाहाबाद में पढ़ते थे, उन्हीं दिनों श्रीसुन्दरलालजी तथा श्रीशांतिनारायणजी से आपका परिचय हो गया था, और उन्हीं दिनों विद्यार्थीजी ने कुछ लिखना भी शुरू कर दिया था। कानपुर में रहते हुए आप कुछ टिप्पणियाँ और लेख लिखते, जो उर्दू पत्र 'स्वराज्य' और हिंदी 'कर्मयोगी' में बराबर छपा करते थे। चूँकि, स्कूल में आपने उर्दू और फारसी ही मुख्य रूप से पढ़ी थी, इसलिए लिखना भी आपका पहले उर्दू ही में शुरू हुआ; परंतु हिंदी की विशेष अभिरुचि ने आपको अपनी ओर खींच लिया और बहुत थोड़े ही दिनों के अंदर आप हिंदी के एक अच्छे लेखक हो गये। इसी बीच आपने दिल्ली-दरबार के संबंध में एक बड़ा लेख लिखा, जो कलकत्ते के 'हितवार्ता' में छपा। बात यह थी कि दिल्ली-दरबार के समय किसी देशी नरेश ने दरबार की प्रथा के खिलाफ कोई आचरण किया, पर था वह आचरण आत्माभिमान से भरा हुआ। इसपर अखबारवालों ने बड़ी टीका-टिप्पणी की। आपको यह बहुत बुरा लगा और उसी के संबंध में यह लेख लिखा। लेख में उस नरेश के आत्माभिमान-पूर्ण आचरण का समर्थन किया गया था। एक बिलकुल नयी बात थी। सब लोग पूरब की ओर चलने को कह रहे थे, इन्होंने पश्चिम-दिशा का मार्ग ठीक बतलाया। इस लेख को पढ़कर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आपकी ओर आकृष्ट

हुआ। इन्हीं दिनों आपने एक लेख 'टिटानिक' जहाज के डूबने पर 'सरस्वती' में लिखा। पूज्य द्विवेदीजी को वह बहुत पसंद आया। उन्हें इस युवक की लेखनी में जोर मालूम पड़ा, उसमें आपने प्रतिभाशाली लेखक और होनहार चित्रकार की झलक देखी, और उसे अपने यहाँ 'सरस्वती' के लिये बुला लिया। उन्हीं दिनों विद्यार्थीजी ने पृथ्वीनाथ हाई स्कूल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

'सरस्वती' साहित्यिक पत्रिका थी और विद्यार्थीजी की रुचि राजनीति-प्रधान थी, शायद इसीलिये एक वर्ष के उपरांत (सन् १६१२ में) आप 'अभ्युदय' में चले गये और काम करने लगे। इन्हीं दिनों आप बीमार पड़े और इलाहाबाद से कानपुर चले आये।

बीमारी से उठने के उपरांत आपकी इच्छा 'अभ्युदय' में जाने की न हुई। पत्रकार-कला की ओर स्वाभाविक रुचि थी ही। इधर दो वर्षों में इस विद्या का खासा ज्ञान और योग्यता भी प्राप्त कर ली थी। 'अभ्युदय' में अग्रलेख और टिप्पणियाँ भी लिखते थे, इससे आत्म-विश्वास भी हो गया था। इसलिये, आपने स्वयं ही एक पत्र निकालने की बात सोची। पं० शिवनारायणजी मिश्र से इसके पहले ही से आपकी मित्रता हो गयी थी। दोनों मित्रों में सलाह-मशविरा हुआ, और सन् १६१३ ई० में कार्त्तिक-शुक्ल ११ (देवोत्थानी एकादशी) को श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने प्रतापी 'प्रताप' को जन्म दिया।

विद्यार्थीजी का १६०७ से लेकर १६१२ ई० तक का जीवन बड़ा ही संकटपूर्ण और तिमिराच्छन्न-सा रहा। इस बीच आप बराबर इधर-उधर डोलते रहे। यह आपका परीक्षा-काल था। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय आता है। ऐसे ही समय में मनुष्य का भाग्य-निर्माण होता है। अगर उसने कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ता, धैर्य, अध्यवसाय,

आत्माभिमान आदि से काम लिया और अपने लक्ष्य पर डटा रहा, तब तो वह कसौटी पर खरा उतर जाता और उसकी जीवन-दिशा प्रशस्त पथ की ओर मुड़ जाती है, वरना वह विचलित होकर, विघ्न-बाधाओं के भीषण थपेड़ों से घबराकर कुंठित होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता और अपना जीवन बर्बाद कर डालता है। विद्यार्थीजी ने अपनी इस संक्रांति-काल की, संकटपूर्ण स्थिति को सँभाला और खूब सँभाला; फलस्वरूप अपने जीवन-क्षेत्र में वह ऐसे विजयी हुए, जैसे संसार में बहुत कम आदमी होते हैं।

सन् १९१३ ई० से लेकर अब तक 'प्रताप' देश की जो सेवा करता चला आ रहा है, वह किसी से छिपी नहीं है। उसे उस अमर शहीद ने, उस वीरात्मा ने एक ऐसा स्थान दिला दिया है, उसे उस पद तक पहुँचा दिया है कि तमाम देशभर में उसकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है। हिंदी-समाचार-पत्रों के नाम लिए जाते वक्त सबसे पहले उसका नाम लिया जाता है। हिंदी को अपनी भाषा में एक ऐसा पत्र होने का गौरव और अभिमान है। परंतु, 'प्रताप' को ऐसा प्रतापी बनाने के लिये उन्हें कैसी-कैसी यातनाएँ सहनी पड़ीं, कितनी विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा, अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिये कितनी बार बड़ी से बड़ी क्षति उठानी पड़ी, इसे कितने आदमी जानते हैं ? रुपया तो पास में था नहीं, परंतु काम इतना बड़ा शुरू कर दिया। किंतु, दुनिया में सब काम रुपये ही के बल पर नहीं चलते। जिसके पास साहस, दृढ़ता, लगन और त्याग है, लक्ष्मी उसकी दासी बनी रहती है। ऐसे आदमी दुनिया में जो कुछ चाहते हैं, कर दिखाते हैं। विद्यार्थीजी के पास रुपया न था ; परंतु उनके पास सराहनीय साहस, अनुपम त्याग, अनोखी लगन और अविचल दृढ़ता थी, और इसी के बल पर वह 'प्रताप' को एक इतनी बड़ी और श्रेष्ठ संस्था बना सके।

४) मासिक किराये पर फीलखाना में एक मामूली-से मकान में, १६ पृष्ठों में 'प्रताप' का प्रादुर्भाव हुआ। दूसरे के प्रेस में वह छपता

था। थोड़े ही दिनों बाद प्रेसवाला रुपये के लिये तंग करने लगा। मित्रों से लेकर किसी प्रकार उसका रुपया अदा किया गया, और एक अपना प्रेस खरीद लिया गया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण शुरू में विद्यार्थीजी तथा पं० शिवनारायणजी को बहुत दिक्कतें उठानी पड़ीं। दफ्तरी, क्लर्क, मैनेजर, संपादक सबका काम आप ही लोग स्वयं करते थे। परंतु, चूँकि जवानी का उत्साह था, काम करने की लगन थी, देश के आर्त्त लोगों की तकलीफों के लिये हृदय में दर्द था और थी हिंदी-संसार के सामने एक नयी चीज रखने की भावना; इसलिये ये दोनों दोस्त सब कुछ सहकर भी 'प्रताप' को निकालते रहे। इन दिनों 'प्रताप' को कानपुर के प्रसिद्ध विद्वान् और विचारशील व्यक्ति महाशय काशीनाथजी से बड़ी मदद मिली। आप बराबर विद्यार्थीजी को अपना सत्परामर्श देते रहते थे।

'प्रताप' में विद्यार्थीजी अर्थशास्त्र के सिद्धांत, दर्शन के गूढ़ रहस्य अथवा इतिहास के विवाद-ग्रस्त प्रश्न नहीं छापते थे। शुरू से अंत तक उन्होंने 'प्रताप' को देश के साधारण मनुष्यों (किसानों और मजदूरों) का पत्र बनाकर रक्खा, और इसलिये सिद्धांत की बड़ी-बड़ी बातें न देकर आप बराबर उसमें किसानों के हित की बातें देते रहे। उनकी क्या आवश्यकताएँ हैं, उनके क्या-क्या कष्ट हैं, वे किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं, उन्हें किस प्रकार तन ढाकने को वस्त्र और पेट भरने को अन्न मिल सकता है, और सत्ताधारियों के अन्याय और अत्याचारों से वे किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, ये ही बातें सदा उनके मन में चक्कर काटा करतीं, और ये ही प्रताप में छपती थीं। पर, इन बातों को लोगों के सामने रखने का ढंग इतना सुन्दर और आकर्षक होता कि लोग मुग्ध हो जाते—उनमें नवजीवन का संचार हो उठता। 'प्रताप' के प्रादुर्भाव से पत्रकार-जगत् में युगांतर उपस्थित हो गया। इसकी नवीन शैली ने सबों को चकाचौंध कर दिया। उसके गंभीर विचारपूर्ण और व्यावहारिक संपादकीय लेख, हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाली उसकी कविताएँ, उसके विद्वत्ता-

पूर्ण विशेष लेख और उसके पन्ने-पन्ने से अन्याय तथा अत्याचार पर कुठाराघात करने का भाव उगलनेवाली भावना ने उसे एक बहुत बड़ा स्थान दे दिया। 'प्रताप' की धाक चारों ओर जम गयी। सभी उसे एक अपनी बड़ी हितकारिणी चीज-सी समझने लगे।

चंपारन के किसानों के दुख-निवारण, मेवाड़ की दुखी प्रजा का पक्ष-समर्थन, देशी राज्यों की प्रजा को अत्याचारों से बचाने, काँग्रेस के काम को आगे बढ़ाने, मजदूरों की दशा सुधारने आदि के संबंध में 'प्रताप' ने अपने १८ साल के जीवन में जो प्रचुर सेवाएँ की हैं, उन सबका वर्णन इस छोटे-से लेख में नहीं किया जा सकता। 'प्रताप' द्वारा विद्यार्थीजी गाँव के भूखे मरनेवाले तथा जाड़ें से ठिठुरनेवाले दरिद्र किसानों की टूटी-फूटी झोपड़ियों तथा शहर के मजदूरों की, पशुओं के रहनेलायक स्थान से भी बदतर, गंदी और महा अंधकार पूर्ण कोठरियों तक पहुँचते थे। इनका दुःख वह अपना दुःख समझते और निजी तौर पर या 'प्रताप' द्वारा उनके दुख-मोचन के लिये जो कुछ कर सकते, करते रहते थे। यही कारण था कि देहात के किसान भाई 'प्रताप' को अपना एक बड़ा भारी शुभचिंतक समझकर अपनाते रहे हैं। परंतु नहीं, 'प्रताप' के चाहनेवाले सिर्फ किसान और मजदूर ही नहीं रहे हैं, उसे पढ़नेवाले और पढ़कर अपने को तृप्त करनेवाले बड़े-बड़े अँगरेजीदाँ विद्वान् भी हैं, और रहे हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के संबंध में उसमें जो विचार प्रकट किये जाते, वे अपने ढंग के अनोखे होते; कोई लगाव-छिपाव नहीं रक्खा जाता। जो बात होती, साफ-साफ कह दी जाती, उसके लिये कोई नाराज हो या खुश। राजनीतिक बातों के संबंध में तो उसकी नीति ऐसी उग्र रही है कि कभी उसकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई पत्र रहा ही नहीं। सरकार की हरएक ज्यादती और अत्याचार का वह खुल्लमखुल्ला विरोध करता और उसके भीषण से भीषण परिणाम सहने को सदा तैयार रहता

आया है। उसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण बड़े-बड़े विद्वान् और लेखक भी जब तक उसे एक बार देख नहीं लेते तब तक उन्हें संतोष नहीं होता।

अपनी उग्र नीति के कारण 'प्रताप' शुरू से ही सरकार की आँखों का खार रहा है। अपने दुर्ग पर बार-बार 'प्रताप' के हमले को देख नौकरशाही काँप उठती। उसने उसे मटियामेट करने की हरचंद कोशिश की, कई जमानतें जब्त की गयीं, धमकियाँ दी गयीं, उसके सर्वस्व गणेश-जी को जेल की हवा तक खिलाई गयी; पर 'प्रताप' अपने आदर्श—उसी महाराणा प्रताप की तरह—सब कुछ सहकर भी अविचलित भाव से अपने कर्तव्य और सिद्धांत पर डटा रहा। 'प्रताप' नौकरशाही की आँखों में कितना अधिक चुभता था, यह इस एक बात से जाना जा सकता है कि १९२१ ई० में नौकरशाही के एक महाप्रभु ने एक साहब से इस प्रकार कहा था—"The public life in U. P. cannot be safe, unless the 'Pratap' is crushed." अर्थात "जब तक 'प्रताप' का अंत नहीं कर दिया जाता, तब तक संयुक्त-प्रांत का जीवन सुरक्षित नहीं हो सकता।"

देशी राज्यों की प्रजा की तकलीफों के लिये विद्यार्थीजी सदा 'प्रताप' में आंदोलन करते और देशी नरेशों की कड़ी से कड़ी आलोचना करते थे। इसके कारण अनेक देशी रियासतों में 'प्रताप' का प्रवेश बंद कर दिया गया, और वह अब भी बंद है। एक बार एक देशी नरेश ने बुलाकर उनकी खातिरदारी करनी चाही। मतलब यह था कि 'प्रताप' उस रियासत की आलोचना न करे। संभवतः, इसके पुरस्कार-स्वरूप हजारों की थैलियों की भेंट मिलती; पर अपने सिद्धांत के पक्के और अपनी आन पर मर मिटनेवाले आत्माभिमानी गणेशशंकर विद्यार्थी भला इस लोभ-पाश में कैसे बँध सकते थे? उन राजा साहब को यह बुरा लगा और 'प्रताप' का उस राज्य में जाना बंद कर दिया गया। ऐसी अनेक

मिसालें हैं। ऐसे कई मौके आये और हर बार विद्यार्थीजी ने अपनी तथा 'प्रताप' की प्रतिष्ठा और शान के सामने चाँदी के टुकड़ों को मिट्टी भी न समझा और ठुकरा दिया। देशी रियासतों की प्रजा पर होनेवाले अत्याचारों का जिस प्रकार 'प्रताप' विरोध करता रहा है, उसी प्रकार भारत-सरकार द्वारा देशी नरेशों पर जब-जब, जो-जो अन्याय और अत्याचार हुए हैं, उनका भी 'प्रताप' सदा विरोध करता रहा है। उसकी नीति सदा निष्पक्ष और सत्यावलंबिनी रही है।

साप्ताहिक "प्रताप" देश और साहित्य की जितनी सेवा करता था, उतने मात्र से श्रद्धेय विद्यार्थीजी को संतोष न हुआ, और इसलिए अधिक से अधिक सेवा करने के विचार से आपने १६२० ई० में दैनिक 'प्रताप' तथा 'प्रभा'-नामक मासिक पत्र भी निकाले। जिन्होंने दैनिक 'प्रताप' और 'प्रभा' को देखा तथा पढ़ा है, वे बतला सकते हैं कि किस शान से दोनों पत्र निकलते थे। ८ महीनों के ही अंदर दैनिक 'प्रताप' के लगभग पाँच-छः हजार ग्राहक हो गये थे। उस समय उसके जोड़ का हिंदी में दूसरा कोई दैनिक न था। १६२१ ई० के असहयोग आंदोलन के समय अवध के किसानों पर घोर अत्याचार हुए। रायबरेली के किसान गोलियों से भून दिये गये। दैनिक 'प्रताप' ने किसानों का पक्ष लेकर अत्याचारों का घोर विरोध किया। उसपर मुकदमा चला, मुकदमे में हजारों रुपये खर्च हुए, और इस प्रकार आर्थिक संकट तथा मुकदमे में दिन-रात लगे होने के कारण दैनिक 'प्रताप' बंद कर दिया गया। पाँच वर्ष तक बहुत ही अच्छी तरह से निकालने के बाद १६२५ में आर्थिक कठिनाई के कारण 'प्रभा' को भी बंद कर देना पड़ा।

कोई एक दफे जेल हो आता है, तो अपने को एक बड़ा देशभक्त समझता है। गत सत्याग्रह-आंदोलन में ७०-७५ आदमी जेल गये, और उन्हें अपनी देश-भक्ति और त्याग का बड़ा नाज़ है। परंतु, वीरवर गणेशशंकर विद्यार्थी ने चार-चार दफा जेल-यातनाएँ सही थीं। और,

उनमें से पहले दो दफे तो उन्हें बहुत ही तकलीफें सहनी पड़ी थीं। पहले दफे फुर्सतगंज और रायबरेली-गोली-कांड के संबंध में, दूसरी दफे फतेहपुर के भाषण के संबंध में, तीसरी दफे शिकोहाबाद के थानेदार के मान-हानिवाले मुकदमे के संबंध में (पर इस बार तुरंत ही लोगों ने जुर्माने का रुपया अदा कर उन्हें छुड़ा लिया था) और चौथी दफे गत सत्याग्रह-आंदोलन के संबंध में। पर, इतने पर भी आपको अपनी देशभक्ति या त्याग का घमंड भी नहीं छू गया था।

विद्यार्थीजी का कार्य-क्षेत्र 'प्रताप' तक ही सीमित न था। 'प्रताप' के अलावा उससे अलग भी उनका कार्यक्षेत्र था, और वह बहुत विस्तृत था। कांग्रेस के तो आप शुरू से ही पक्के अनुयायी रहे हैं, और उसके कार्यों को आगे बढ़ाने के लिये सदा जी-जान से कोशिश करते रहे। प्रांत के राजनीतिक कार्यों में सदा बड़ी दिलचस्पी लेते और उसे बढ़ाते थे। कानपुर के राजनीतिक जीवन के तो आप मानो प्राण थे। आप कानपुर के 'बेताज के बादशाह' और 'गाँधी' थे। आपके उँगली हिलाने पर सैकड़ों नवयुवक आपके पीछे दौड़ पड़ते थे। १६२६ ई० में फर्रुखाबाद में युक्त-प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ था, आप उसके सभापति थे तथा गत सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ने के समय युक्त-प्रांत के आप ही प्रथम डिक्टेटर भी थे। १६२५ ई० में कानपुर में ही कांग्रेस का महाधिवेशन हुआ था। उस अधिवेशन की स्वागतकारिणी समिति के प्रधान मंत्री विद्यार्थीजी थे। जिन्होंने विद्यार्थीजी को उन दिनों काम करते देखा, वे जानते हैं कि वे दिन और रात को एक कर किस प्रकार कांग्रेस-अधिवेशन की तैयारी में व्यस्त थे। जितनी बड़ी जिम्मेदारी का काम था, उतनी ही लगन, मेहनत और बहादुरी से आपने उसे अदा करके लोगों को दंग कर दिया। गत ४४-४५ वर्षों के कांग्रेस के इतिहास में कानपुर का-सा सुन्दर प्रबंध दो ही एक दफे हुआ है! इसका सारा श्रेय श्री गणेशशंकरजी तथा उनके चुने हुए अनुयायियों को ही

है। इच्छा न होते हुए, सिर्फ कांग्रेस का आदेश मानने के लिये आप तीन साल के लिये प्रांतीय कौंसिल के मेंबर भी रहे, और जिस समय कांग्रेस ने कौंसिल छोड़ने का आदेश दिया, यू० पी० कौंसिल के स्वराजी मेंबरों में आप ही थे, जिन्होंने सबसे पहले इस्तीफा दिया था।

मजदूरों और किसानों के तो आप सबसे बड़े सेवक थे। इधर गत तीन-चार वर्षों से बराबर आप ही कानपुर-मजदूर-सभा के सभापति थे, और कानपुर-निवासी ४०-५० हजार किसानों के दुःख दूर करने का यत्न करते रहते थे। किसानों के संगठन और प्रत्यक्ष सेवा की भावना आपके हृदय में बहुत दिनों से थी; परंतु अनेक दूसरे झंझटों से वह कार्य-रूप में परिणत नहीं हो पाती थी। पर गत दो साल हुए कि उन्होंने अपने इस उद्देश्य को भी कार्य रूप में परिवर्तित कर दिया। कानपुर जिले के नरवल नामक ग्राम में एक आश्रम स्थापित किया तथा उसे केंद्र बनाकर आस-पास के २०० गाँवों का संगठन शुरू कर दिया था। अभी यह कार्य शुरू ही हुआ था कि सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ गया; फिर भी इस केंद्र ने इस आंदोलन में बहुत काम किया। विद्यार्थीजी का आगे चलकर इसी आश्रम में रहने का भी विचार था। हिंदी-साहित्य की जितनी सेवा विद्यार्थीजी ने की, उतनी बहुत कम आदमी कर पाये होंगे; फिर भी आप अपने को साहित्य-सेवी नहीं कहते थे। गोरखपुर में होनेवाले अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के लिये आपपर बहुत दबाव डाला गया, तब कहीं जाकर आपने उस पद को स्वीकार किया था, और स्वर्गारोहण के समय भी सम्मेलन के सभापति आप ही थे।

ऊपर जिक्र किया जा चुका है कि विद्यार्थीजी बचपन से ही बड़े अध्ययनशील थे। विद्या की ओर विशेष रुचि और सदा स्वाध्याय करते रहने की भावना से ही उन्होंने अपने नाम के आगे 'विद्यार्थी'

शब्द जोड़ लिया था। कहते थे कि मनुष्य तो मरण-पर्यंत कुछ न कुछ सीखता रहता है, और मैं भी एक विद्यार्थी की नाईं जीवन-भर पढ़ता और सीखता रहूँगा। एक संपादक को सब विषय की जानकारी रखनी चाहिये—इस खयाल से आप राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का सदा अध्ययन करते रहते थे। कोई भी अच्छी-सी नयी पुस्तक निकली और आपने उसे मँगाकर पढ़ डाली। शेली, स्टुअर्ट मिल, स्पेंसर, रूसो, ब्यूरो, मोपाँसा आदि के अनेक ग्रंथ आपने पढ़े थे। साहित्य में उपन्यास की ओर आपकी विशेष रुचि थी, और विदेशी उपन्यासकारों में विक्टर ह्यूगो के तो आप अनन्य भक्त थे। गरीब और दुःखी जनता के दुःख से आपका हृदय सदा दयार्द्र हो उठता, और विक्टर ह्यूगो ने इसी श्रेणी के लोगों की करुण-कहानी परम ओजस्विनी, भावपूर्ण और हृदय को गद्गद कर देनेवाली भाषा में अपने ग्रंथ-रत्नों में लिखी है। इसी कारण आप उसपर अत्यंत मुग्ध थे। आपके विक्टर ह्यूगो-प्रेम का सबसे ज्वलंत उदाहरण यह है कि आपने कई वर्ष पहले उसकी 'नाइंटी थ्री' नाम की पुस्तक का 'बलिदान' नाम से भावानुवाद किया, जो प्रकाशित हो चुकी है, और इस दफे, जब जेल गये थे, तो उसकी 'ला मिजराब्ल्स' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का भी अनुवाद कर डाला, जिसका नाम 'आहुति' रक्खा है। बलिदान, त्याग, कुर्बानी और आहुति की भावना उनकी नस-नस में घर कर चुकी थी और उनकी मनोवृत्ति सदा उसी दिशा में चक्कर लगाया करती; बराबर बलिदान ही बलिदान उन्हें सूझता। शायद इसी भावना से उत्प्रेरित होकर उन्होंने अपनी पहली पुस्तक का नाम 'बलिदान' और दूसरी का नाम 'आहुति' रक्खा था। क्या विचित्रता और तारीफ की बात है? सारा जीवन त्याग और बलिदानमय रहा। पुस्तकों का नाम भी ऐसा ही रक्खा और अंत में उसी भावना-मार्ग के पथिक बन स्वयं भी बलिदान हो गये! जीवन में बहुत कम ऐसा सामंजस्य होता है! मौलिक पुस्तक लिखने की चर्चा

करने पर कहते—"भाई, इतने बड़े-बड़े आदमियों के इतने अच्छे-अच्छे ग्रंथ हैं कि अपनी मौलिक पुस्तक लिखने की अपेक्षा उनका अनुवाद लोगों के सामने रखना अधिक बेहतर है।" हालाँकि मौलिकता उनमें कूट-कूटकर भरी थी और जो कुछ भी उन्होंने मौलिक रूप से लिखा, वह अपने ढंग की एक निराली चीज साबित हुई।

देश के सभी उत्कृष्ट लेखकों और विद्वानों के ग्रन्थों को आप अच्छी तरह चाट गये थे। दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, गोखले, तिलक, गाँधी आदि राजनीतिक लेखक और सूर, तुलसी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा महावीर-प्रसाद द्विवेदी-जैसे साहित्यिक लेखक आपके विशेष प्रेम-पात्र रहे। तुलसीदास ने अपनी रामायण में पुराने ढंग के जो सामाजिक सिद्धांत लिखे हैं, वे उन्हें पसंद न थे; फिर भी उनका कहना था कि जो कोई हिंदी लिखना चाहे, उसे रामायण का अच्छी तरह परिशीलन करना चाहिये। स्वयं तो वह रामायण का नौ दफे पारायण कर गये थे; परंतु इन सबों से अधिक प्रेम उनका जिस हिंदी-कवि पर था, वह कबीर था। कबीर की परम रहस्यमयी और भावपूर्ण छायावादी कविताओं पर तो वह लट्टू रहते थे। उनकी विद्याभिरुचि सर्वतोमुखी थी और सचमुच वह ज्ञान के भंडार थे, तथा उनके पास बैठने मात्र से उनसे आदमी बहुत कुछ सीख सकता था।

उनकी लेखनी में एक अजीब मनोमुग्धकारिणी शक्ति थी। बिलकुल साधारण बोल-चाल की भाषा लिखते, ठेठ से ठेठ शब्द इस्तेमाल करते। परंतु, उनकी रचना इतनी सुंदर होती, उनमें ऐसे सुंदर भाव-माणिक पिरोये जाते, उनके वर्णन का ढंग इतना मनोहारी होता और होता उनमें इतना ओज कि पढ़नेवाला बाग-बाग हो जाता; श्रद्धा से हृदय उमड़ आता, उसकी इच्छा होती कि लेखक के चरणों की रज उठाकर सर में लगाऊँ, उसकी कलम चूम लूँ। जिसकी लेखनी में इतनी शक्ति होती

है, उसकी वाणी में प्रायः उतना बल नहीं होता। परंतु, विद्यार्थीजी में एक अलौकिक प्रतिभा थी—वह सर्वतोमुखी थी। वह एक उत्कृष्ट संपादक थे, तो साथ ही एक कुशल प्रबंधक भी; एक प्रवीण लेखक थे, तो साथ ही एक प्रभावशाली व्याख्यानदाता भी; वह नेता होने की क्षमता रखते थे, तो साथ ही सेवक और सिपाही होने की विनम्र और अनुशासनशीलता भी; वह बड़ी-बड़ी योजनाएँ भी तैयार कर सकते थे, तो साथ ही उन्हें कार्य-रूप में परिणत भी कर दिखाते थे। एक साथ ही अनेक काम कैसे किये जा सकते हैं, उन्होंने अपने जीवन में इसे प्रत्यक्ष कर दिखाया।

जितने अच्छे ढंग से लेख लिखकर वह अपने पाठकों का मन मुग्ध कर प्रभावित कर सकते थे, उतनी ही खूबसूरती के साथ वह अपने व्याख्यानों द्वारा श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध करके असर डाल सकते थे, और डालते थे। अनेक बार उनके व्याख्यानों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ; पर कभी उनमें मुर्दादिली न मालूम पड़ी, सदा जिंदादिली और उत्साह का स्रोत उमड़ता पाया। जिस समय वह बोलने उठते, हजारों की तादाद में बैठे श्रोता लोग एकदम शांत हो जाते—जरा भी हो-हल्ला न होता और मालूम होता कि श्रोता-मंडली बड़ी उत्सुकता और प्रेम से चातक की तरह उनके व्याख्यान के एक-एक शब्द को स्वाती के एक-एक बूँद की तरह पिये डालती है। सुननेवाले उनकी युक्तियों और प्रभावशाली शैली से दंग रह जाते।

निर्भीकता और अत्याचारों का विरोध करने की मनोवृत्ति तो मानो उनमें जन्मजात थी; बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ती थी। कहीं कोई अत्याचार होते देखा और उसके विरोध के लिये दौड़ पड़े! सन् १९१७ तथा उसके पूर्व बिठूर के मेले में कानपुर के यात्री मालगाड़ी के डब्बों

में गाय-भैंसों की तरह भरकर भेज दिये जाते थे। एक दफे विद्यार्थीजी भी वहाँ जा रहे थे। देखा, लोग मालगाड़ी में चढ़ रहे हैं। उन्हें यह बहुत बुरा लगा। स्टेशन के अधिकारियों से या तो मुसाफिर-गाड़ियों में लोगों को बिठाने या टिकट के दाम वापस देने को कहा ; परंतु वे भला इनकी बात पर क्यों ध्यान देने लगे ! इन्होंने झट सत्याग्रह की बात सोची और अपने कुछ अनुयायियों को लेकर मुसाफिरों से लदी, खुलने के लिये बिलकुल तैयार गाड़ी के आगे आकर लाइन पर लेट गये। अधिकारियों को झख मारकर इनकी बात माननी पड़ी, और तब से फिर कभी मालगाड़ी में लादकर लोग बिठूर नहीं ले जायें गये।

१९२७ ई० में कानपुर में हिंदू-मुस्लिम-दंगा हुआ, और सरकार ने बिलकुल व्यर्थ में अतिरिक्त पुलिस बैठा दी। अतिरिक्त पुलिस का कर देने की घोषणा हुई। विद्यार्थीजी इसके खिलाफ उठ खड़े हुए। इन्होंने कहा कि यह टैक्स सरासर धाँधली से लगाया गया है, अतिरिक्त पुलिस की कोई जरूरत न थी, हम टैक्स न देंगे। आपके नेतृत्व में कानपुरवाले टैक्स न देने के लिये तैयार हो गये। आठ आने और एक-दो रुपये की जगह ५), १०) और २५), ५०) रु० की चीजें पुलिस जबर्दस्ती उठा ले गयी; परंतु सैकड़ों लोगों ने इसका विरोध करते हुए अपने मन से एक पैसा भी टैक्स अदा नहीं किया। देशी रियासतों की प्रजा पर होनेवाले अत्याचारों का विरोध, चंपारन के नीलहों की ज्यादतियों का विरोध, अवध के किसानों पर होनेवाले जुल्मों का विरोध, साईंखेड़ा के दादा के भ्रष्टाचरणों का विरोध, जगह-जगह की पुलिस तथा नौकरशाही की ओर से होनेवाली बीसों धाँधागर्दियों आदि का विरोध आपने किया और बड़ी निर्भीकता के साथ किया ; उसके अच्छे या बुरे फल का कुछ भी खयाल न करके अपना कर्तव्य समझकर किया। फलस्वरूप अनेक मुकदमे चले, अनेक तकलीफें झेलनी पड़ीं; पर उनकी कतई कोई परवा न की। चर्चा होने पर कहने लगते—भाई, क्यों परेशान होते हो, जीवन

में यह सब तो लगा ही रहता है। मनुष्य झंझट और आपत्तियों से बचकर तो कभी रह ही नहीं सकता ; फिर क्यों न अच्छे कार्यों के मरने के उद्योग के ही झंझटों और आपत्तियों में फँसकर उन्हीं का मुकाबिला किया जाय। ऐसी थी उनकी मनोवृत्ति, और अपने जीवन भर इसी मनोवृत्ति से वह काम करते रहे। वह एक बहादुर लड़ाके थे, हाथ पर हाथ धरके बैठना कभी न जानते थे।

श्रीयुत गणेशशंकरजी का प्राइवेट जीवन भी बड़ा ही पवित्र था। लगभग आठ वर्षों से मुझे उनके संपर्क में तथा ५ वर्षों से तो बिलकुल उनके पास, उनके चरणों में, रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने उन्हें बहुत नजदीक से देखा और अच्छी तरह से देखा ; परंतु न तो दूसरों को उनकी तरफ उँगली उठाते देखा, और न स्वयं ही कोई ऐब दिखाई पड़ा। उनमें गुण ही गुण दिखाई पड़े, अवगुण अगर कोई देखा भी, तो वह बहुत मामूली, बिलकुल नगण्य। युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा उन्हें अपनाने का तो उनमें एक विचित्र गुण था। मनुष्य-पारखी भी वह एक ही थे। जिस युवक में प्रतिभा देखी, होनहार पाया, उसे अपनाया, प्रोत्साहित किया और आगे बढ़ाया। न जाने ऐसे कितने नवयुवकों को अपनाकर आपने उन्हें कृतकृत्य कर दिया; उनका जीवन-स्रोत एक तरफ से दूसरी तरफ मोड़कर सदा के लिये उन्हें अपना आभारी बना लिया। कितनों को आपने इस प्रकार उपकृत किया, जिसका कुछ हिसाब नहीं लगाया जा सकता। दूसरों की भलाई और सेवा की तो उन्हें इतनी चिंता रहती ; पर स्वयं किसी से, अपने घनिष्ठ-से घनिष्ठ मित्र से भी कोई अधिक उम्मीद नहीं करते थे। कहते थे—"किसी से अधिक उम्मीद न करो—Don't expect too much from and body." जो भी इनके संपर्क में आया, उसपर इनका असर पड़े

बगैर नहीं रहा। इसका एक मुख्य कारण यह था कि वह सिर्फ सिद्धांतवादी ही न थे, व्यवहारवादी भी थे। जो कहते थे, कर दिखाते थे; फिर भला उनकी तरफ लोग क्यों न आकृष्ट होते और क्यों न उन्हें अपना मित्र, गुरु या नेता मानकर अपने को धन्य मानते!

'प्रताप'-प्रेस सदा आर्त्त और असहायों का सहायक-सदन बना रहता। जिसे कहीं कोई सहारा न मिले, सहायता न मिले, उसे 'प्रताप'-प्रेस में सहारा भी मिल जाता, सहायता भी मिल जाती। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के लिये तो 'प्रताप'-प्रेस अपना घर ही-सा था। इसके अलावा प्रांत के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं तथा पीड़ित, जेलों में बंद राजबंदियों के पीड़ित तथा निस्सहाय परिवारों की भी आप सदा खोज-खबर लेते तथा मदद पहुँचाया करते थे। किसी के घर पर रुपया भेज रहे हैं, तो कहीं कपड़े ही जा रहे हैं, कहीं किसी की कन्या की शादी का प्रबंध करवा रहे हैं, तो किसी के लड़के के पढ़ने का इंतजाम कर रहे हैं। हिंसा के मार्ग को आप पसंद नहीं करते थे; फिर भी क्रांतिकारियों की देशभक्ति और त्याग के लिये उनके हृदय में बड़ी इज्जत थी। विद्यार्थियों की भी आप बराबर सहायता करते रहते थे। उनका हृदय कितना विशाल था, उनमें कैसी उदारता थी, यह जो उनके संपर्क में एक दफे भी आया होगा, बतला सकता है। सांप्रदायिकता उनमें छू भी नहीं गयी थी, और हिंदू तथा मुसलमान दोनों को समान रूप से उनके कुकृत्यों के लिये वह फटकार बतलाते, उनकी निंदा करते थे। मातृभूमि का उद्धार और स्वदेश-सेवा ही उनके जीवन का मूलमंत्र था, और इसी आदर्श-रक्षा के लिये उन्होंने अपने को उत्सर्ग कर दिया।

विद्यार्थीजी का व्यक्तित्व चुम्बक की तरह आकर्षक, उनकी संगति पारस पत्थर की नाईं प्रभावशालिनी, उनका त्याग स्फटिक-शिला की नाईं स्वच्छ, उनका चरित्र गंगाजल के समान निर्मल और उनकी प्रतिभा

मोती-जैसी आबदार थी! मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति उनके गुणों की प्रशंसा ही क्या कर सकता है ? वह चल बसे, अब इस संसार में नहीं रहे ; कानपुर का ध्रुवतारा अस्त हो गया, युक्तप्रांत का अनन्य नेता नहीं रहा, पत्रकारों का सिरमौर लुट गया, देश के किसानों और मजदूरों का जबर्दस्त हितचिंतक उन्हें अनाथ कर गया, इसे मानने को जी नहीं चाहता, और इसे सोचकर भी हृदय विकंपित हो उठता है; परंतु वह तो दरअसल चला गया और सदा के लिये चला गया—अमर हो गया! ईश्वर करे, देश के नौजवान उसकी कुर्बानी से कुछ सबक सीखें, और उसी की तरह अपने कर्तव्य-पालन के लिये बलिदान होने में अपना गौरव समझें।

—देवव्रत

पं० श्रीराम शर्मा

स्केच लिखना—लेखनी की सहायता से ज्यों का त्यों चित्र खींच देना—कोई आसान काम नहीं। इसके लिए लेखक को कठोर साधना करने की जरूरत पड़ती है। जहाँ रंग के थोड़े गहरे या किंचित हल्के होने से तसवीर बिगड़ सकती है, वहाँ तूलिका को कितनी सफाई, कितने चातुर्य के साथ चलाना चाहिए, इस बात का अंदाज कोई कुशल चित्रकार ही लगा सकता है। इसके लिए सरस्वती के मंदिर की आराधना तो अनिवार्य है ही; पर साथ ही साथ अपने व्यक्तित्व को सजीव बनाये रखना भी अत्यंत आवश्यक है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँखें खोलकर दुनिया नहीं देखी, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का मौका नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकांत में बैठकर जिंदगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है? पर इसके साथ ही साथ भाषा को भी संस्कृत करने की नितांत आवश्यकता है। सभी अनुभवी आदमी अपनी अनुभूतियों को यदि लिख सकते, तो साहित्य-क्षेत्र आज प्रतिभाशाली लेखकों से भरे हुए दीख पड़ते।

व्यक्तित्व का विकास और भाषा का संस्कार साथ ही साथ चलना चाहिए। यद्यपि हम इस बात को मानते हैं कि पहली चीज का दूसरी पर अत्यंत प्रभाव पड़ता है; पर दूसरी उपेक्षणीय हर्गिज नहीं। सफल चित्रण इन दोनों के सामंजस्य पर निर्भर है।

हिंदी में स्केच लिखने की कला का अभी प्रारंभ ही हुआ है। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा (संपादकजी) ने इस विषय में पथ-प्रदर्शक का काम किया था। 'पद्मपराग' के कई स्केच लाजवाब बन पड़े हैं। भावों के साथ भाषा का ऐसा मेल बहुत ही कम देखने में आता है। स्वर्गीय संपादकजी के बाद यदि किसी ने इस विषय में थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त की है, तो वे हैं 'बोलती प्रतिमा' के सुलेखक श्रीयुत श्रीराम शर्मा। वे इस विषय में स्व० पं० पद्मसिंह के असली उत्तराधिकारी हैं। जिस समय 'विशाल भारत' में श्रीरामजी के शिकार-संबंधी स्केच निकल रहे थे, उस समय पूज्य पंडितजी ने इन पंक्तियों के लेखक को लिखा था— "श्रीरामजी तो उत्तरोत्तर गजब ढा रहे हैं। बन्दूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बैठता है ; पढ़नेवाला तड़पकर रह जाता है। नजर से बचाने के लिए इनके डंड पर भैरवजी का गंडा बाँध दीजिये।"

स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी ने अनेक बार श्रीरामजी की शैली को 'सजीव', उनके भाव-विश्लेषण को 'मनोविज्ञान-सम्मत' और भाषा को 'विषय के अनुरूप' बतलाया था। 'बोलती प्रतिमा'† नामक पुस्तक ने श्रीरामजी की इस ख्याति को, जो उन्होंने शिकार-संबंधी स्केच लिखकर प्राप्त की थी, और भी बढ़ाया है। 'बोलती प्रतिमा' का हम इसलिए और भी स्वागत करते हैं कि वह लेखक के जीवन के मुख्य पहलू पर प्रकाश डालती है। अब तक लोग श्रीरामजी को 'शिकारी' ही मानते रहे हैं,

---

†'बोलती प्रतिमा'—लेखक, श्रीयुत श्रीराम शर्मा; प्रकाशक, जगन्नाथ कुटीर, किरथरा, मक्खनपुर (मैनपुरी)।

यद्यपि श्रीरामजी को अपने इस परिचय से सख्त नफरत है; पर इसमें दोष उनका भी है। वर्षों से वे अपने कितने ही अच्छे-अच्छे लेख बिना नाम के अथवा उपनाम से छपाते रहे थे, और इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लोग उनके व्यक्तित्व का यथोचित अनुमान नहीं लगा सके।

'बोलती प्रतिमा' की प्रथम कहानी 'बोलती प्रतिमा' को पढ़कर रशियन कलाकार तुर्गनेव की 'A Living Relic' (प्राचीन काल की एक जीवित यादगार*) की याद आती है। इस कहानी में श्रीरामजी ने अपने अनुज स्वर्गीय जगन्नाथ शर्मा का जो चित्रण किया है, वह हिंदी-साहित्य में एक अनोखी चीज है। इस स्केच में निस्संदेह उनकी कला का सर्वोत्तम विकास दीख पड़ता है।

"मसहरी के भीतर एक अचल शरीर चित्त पड़ा था। टाँगें सुकड़ी और इतनी पतली, मानो पतले बाँसों पर खाल चढ़ा दी गयी हो, और हाथ पौनी-से पतले। छाती इतनी भीतर को घुसी हुई कि पीठ से लगी हुई और इतनी गहरी कि उसमें सेर दो सेर अन्न भरा जा सकता था। हाँ, उस चेहरे में दो आँखें ही थीं, जिनकी पुतलियाँ चलती थीं, और जिनके चलने से उस अचल शरीर की स्वाभिमानी आत्मा आँखों के आस-पास कहीं उलझी मालूम होती थी। हाथों की उँगलियाँ कभी-कभी हिल जाती थीं; पर उनमें इतनी गति नहीं थी कि वे किसी चीज को उठा सकें। उस जीवित शव को देखकर मुझे बड़ी दया आयी, और क्षमा माँगने के रूप में मैंने कहा—'मेरे कारण आपको कोई कष्ट हुआ हो, तो माफ कीजिये। मुझे नहीं मालूम था कि आपको इतना कष्ट होगा।' "

(बोलती प्रतिमा)

भाई जगन्नाथ को हमने अपनी आँखों से देखा था और उनकी स्मरणशक्ति तथा प्रबंधपटुता को देखकर हम आश्चर्य में पड़ गये थे।

---

* 'विशाल भारत', जनवरी १९३३।

चौदह वर्ष तक उन्होंने जो घोर तपस्या की थी, उसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असंभव है। 'बोलती प्रतिमा' की तरह 'फीरोजाबाद की काल-कोठरी' में भी शर्माजी की लेखनी का चमत्कार दीख पड़ता है। डाक्टर जीवारामजी, जो अपने बच्चों के साथ उस नृशंस हत्या के शिकार हुए थे, शर्माजी के चचेरे भाई थे। जिस समय शर्माजी प्रश्न करते हैं—"क्या निर्दोष बच्चों के वध और विधवा की आहों में कुछ शक्ति है ? क्या वे पुरअसर हो सकती हैं और पुरअसर होकर विघ्न-बाधाओं को चीरती वे क्या हमें उस आदर्श पर ले जा सकती हैं, जहाँ से हम सभ्यता का पहला पाठ, मानवता की अ आ, इ ई, सीख सकें—आदमी को आदमी समझें ! हमें तरस आता है मुस्लिम युवकों पर ! क्या वे इतने कायर हैं ? क्या वे इतने पतित हो गये हैं कि उन्हें अपने देश और मानवता का कुछ खयाल नहीं है ?···हिन्दू, मुसलमान और नौकरशाही तनिक हमें बतायें—हमें न बतायें, तो बिलखती विधवा को उसके बिछुड़े पति और बिलखकर प्राण देनेवाले बालकों की खातिर ही बतायें कि फीरोजाबाद के मुसलमानों ने इतने निर्दोष मानवी पुतलों के खून से अपने हाथ क्यों रँगे हैं ?" उस समय सरकार और मुसलमानों के लिये सिवाय इसके कि वे लज्जा से सिर झुका लें और कोई चारा नहीं।

लेखक की सहृदयता और सात्विक क्रोध का अनुमान निम्न-लिखित पंक्तियों से लग सकता है—

"जेठ की दुपहरी में, जब पशु-पक्षियों ने पेड़ों की शरण ले ली थी, मैं पक्की सड़क से घर की ओर को लपका जा रहा था। कोई आध मील ही जाना था, और ऊसर में होकर था रास्ता। दूर से कुदाली की आवाज सुनाई पड़ी। मैंने सोचा कि ऐसा कौन-सा पागल है, जो लू में कंकड़ खोद रहा है। खयाल किया, कोई कामचोर ठेकेवाला होगा, जो प्रातःकाल तक सोता होगा और दोपहर को काम करता होगा।

पास आया, तो चौंककर खड़ा हो गया। शीघ्र ही पालागन से अभिवादन हुआ।"

'अरे चंदा, मरेगा क्या? जीव-जन्तु घबराकर पेड़ों के नीचे हैं, और तू दुपहरी अपने ऊपर काट रहा है!'—मैंने भर्त्सना की भावना से कहा।

'पंडितजी, मरना तो है ही। मेहनत करके क्यों न मरूँ? छाया और आराम पशु-पक्षियों को बदा होगा। यहाँ तो भाग्य में जहर भी नहीं।'—वेदनामिश्रित मुसकान से चंदा ने कहा।

लंगोटा पहने, नंगे शरीर, नंगे पैर और कुदाली के सहारे चंदा खड़ा था। उसकी दग्ध आत्मा उसके रोम-रोम से प्रस्फुटित होकर जमींदारी-प्रथा को शाप दे रही थी। मैं दो मास उपरांत गाँव में आ रहा था। चंदा की बेदखली और परेशानी सुनकर हृदय को एक चोट लगी। मन ही मन मैंने कहा कि चंदा कंकड़ों का गड्ढा नहीं खोद रहा है, वरन् जमींदारी-प्रथा की कब्र, जिसमें यदि अत्याचार की यही गति रही, तो जमींदारी-प्रथा की पूतना गड़ जायगी। 'अरे, तू दो-चार धड़ी नाज मेरे भाई जगन्नाथ से ले आता।'—मैंने शिकायतन कहा।

'माँग-जाँचकर कब तक काम चलाता? ले तो आया था; पर फिर दुबारा जाने की हिम्मत न हुई।'—चंदा ने नीचा सिर करके कहा।

मैं—'चल मेरे साथ! पहले खाना खा और घरवालों को आटा-दाल पहुँचा।'

चंदा—'सो पंडितजी, आपका ही खाता हूँ। आज ही ठेका लिया है। कंकड़ खोदकर ठेकेदार को दिखाना है, नहीं तो ठेकेदार निकाल देगा।'

मैं—'चल। ठेकेदार से मैं भुगत लूँगा।'

'घर आकर चंदा को खाना खिलाया। उसके पेट की ज्वाला का बस चलता, तो पेट फाड़कर निकल पड़ती और सब खाना खा जाती।

पानी पीकर चंदा कुछ लेटा और अरहर की दाल और आटा लेकर घर पहुँचा।"

जरा आगे का दृश्य देखिये—

"घर में तीन थालियाँ, एक बटलोई और एक कटोरा था। दोनों बहुओं ने एक थाली में भोजन परोसा। चन्दा ने अपनी थाली में एक बालिश्त ऊँची रोटियाँ परसीं। उसकी मा ने पानी रखकर कौर तोड़ा। एक आध रोटी ही वे लोग खा पाये होंगे कि एकदम चंदा के मकान में बीसों आदमी भर गये। वे कुर्कीवाले और जमींदार के गुर्गे थे। भूखे कुटुम्ब के सामने से परसी थालियाँ पकड़ ली गयीं। स्त्रियाँ एक ओर से परसी थालियों को खींच रही थीं और दूसरी ओर से जमींदार के गुर्गे। भूख और नृशंसता में रस्साकशी थी। पीड़ित और अत्याचारी का युद्ध था। स्त्रियों और चंदा के पेट में छिपी भूख ने तड़पकर अपनी सारी शक्ति हाथों को दे दी। आँखों की ज्योति ने हाथों को बिजली दी, और एक-एक आदमी उन भुक्कड़ों के हाथ से थालियाँ न छीन सका। तब और आदमियों ने औरतों के हाथों को एक ओर को खींचा और दूसरी ओर को थालियाँ खींची गयीं।"

ऐसे दृश्यों को देखकर बीसियों बार श्रीरामजी की आँखों में खून उतर चुका है, और आज यदि उनकी भाषा में ओज और शब्दों में ताकत है, तो वह इस प्रकार की अत्यंत कष्टप्रद अनुभूतियों का परिणाम है। कोई साधारण ढिल्लमुतान (बेपानी का) आदमी इन दृश्यों को देखता, तो उनकी आत्मा और भी निर्जीव बन जाती, और वह यह कहकर अपने मन को समझा लेता—"दुनिया में ऐसा होता ही रहता है, किस-किसके लिये रोया जाय?" पर श्रीरामजी उन आदमियों-से नहीं हैं। उन दृश्यों ने उनकी अंतरात्मा को प्रज्ज्वलित कर दिया है। उन्होंने पिछले पंद्रह वर्षों में अपने आस-पास के किसानों को नैतिक बल

देने के लिये जो काम किया है, उसका वर्णन करने के लिये यहाँ स्थान नहीं है।

अभी उस दिन एक महानुभाव ने एक मनोरंजक क़िस्सा सुनाया—"हमने अपने गाँव के लिये इक्का किया ही था कि इतने में दारोगाजी के सिपाही ने इक्केवाले को डाँटते हुए कहा—'कहाँ जाता है ? चल बे, दारोगाजी ने बुलाया है।' इक्केवाला होशियार था, प्रत्युत्पन्नमति था, तुरंत ही बोला—'मुझे चलने में कोई एतराज़ नहीं ; पर पंडितजी के गाँव किरथरे जा रहा हूँ।' इसपर सिपाही ने झेंपकर कहा—'तो जा, रहने दे।'" इक्केवाला अपनी सूझ के कारण बेगार से बच गया ! यह घटना श्रीरामजी के नैतिक प्रभाव का अनुमान कराने के लिए पर्याप्त है। श्रीयुत ब्रेल्सफोर्ड-जैसे संसार-प्रसिद्ध और सजीव पत्रकार भी, जो शर्माजी के ग्राम पर हो आये थे और आस-पास घूमे थे, शर्माजी के इस नैतिक प्रभाव के कायल हुए थे।

जोरदार भाषा लिखने के लिये प्रकृति से निकट संसर्ग तथा किसानों-मजदूरों से सम्पर्क कितना अधिक आवश्यक है, इसका हमलोगों ने अभी अनुभव ही नहीं किया। सौभाग्य से ये दोनों ही चीजें वर्षों से श्रीरामजी को प्राप्त रही हैं। दरअसल प्रकृति ने उन्हें शारीरिक तथा साहित्यिक अकाल मृत्यु से बचाया है। निम्न-लिखित वाक्य हमारे कथन का प्रमाण है—

"कई वर्ष की बात है। भाग्य-भँवर के थपेड़ों से व्याकुल, शरीर से क्लान्त और सम्बन्धियों तथा मित्रों से त्याज्य—एक प्रकार से उपेक्षित और भुलाया हुआ—मैं कष्टों के रसातल की ओर धीरे-धीरे सरक रहा था। न कहीं आना था, और न कहीं जाना। लोग मुझे एक प्रकार से भूल-सा गये थे। कष्ट-पीड़ित व्यक्ति को अनेक लोग मूर्ख और निकम्मा भी समझते हैं। मेरे प्रति कई एक की ऐसी धारणा थी—ऐसा मेरा खयाल था। मैं भी उनकी उपेक्षा करता था ; पर था मैं दुखी। उन दिनों कोई ऐसा साथी भी न मिलता था, जिससे मन की व्यथा कहकर हृदय को

कुछ हलका कर सकूँ । पके आम की भाँति भीतर ही भीतर घुला जाता था । कुटिया के आस-पास काफी रौनक थी । पुराने मित्र—वृक्ष—डालियों के संकेत से बुलाते भी थे । मैं उधर जाता भी था, और वहाँ एकान्त में अंतर्मुखी दुख तरल होकर आँखों को निस्तब्ध कन्दरा के दो झरनों के रूप में परिवर्तित कर देता था । फोड़े का मवाद निकलने से जैसे कुछ चैन मिल जाता है, उसी भाँति तबीयत में कुछ हलकापन तो आ जाता था; पर वहाँ से हटने के बाद वह दिल का फोड़ा दुखकर भर जाता था । भरिया फूटा फोड़ा कितना दुखदायी होता है—विशेषकर मानसिक कष्ट-रूपी फोड़ा—इस बात को भुक्तभोगी ही महसूस कर सकता है । हर समय मेरे लिए वही रोना था ; इसलिए मेरी दशा पिंजड़े में बंद उस पक्षी की-सी थी, जिसके लिए—

खिजाँ क्या फसले गुल कहते हैं किसको कोई मौसम हो,
वही हम हैं, कफस है और मातम बालोपर का है ।

पर युद्ध करने की प्रवृत्ति अथवा भगवान की प्रेरणा से दृष्टि सर्वदा आशा-प्रभात की ओर रही है ; इसीलिए डेढ़ वर्ष उपरांत उस अंधकार-काल में एक आशा-किरण दिखाई पड़ी, और सबसे पहले मैंने शिकार खेलने का प्रोग्राम बनाया, और वह भी सात-आठ दिन के लिए ।"

श्रीरामजी की प्रभावशाली लेखन-शैली में टिहरी-गढ़वाल के वन्य प्रदेशों का जितना हाथ है,उतना ही जमनाजी की आस-पास की भूमि का—खारों का—है, और अपने शब्द-भाण्डार के लिए वे जितने हिंदी-उर्दू-लेखकों के ऋणी हैं, उतने ही चंदा, गोविन्दा तथा पीताम्बर के भी हैं । वन्य प्रदेशों के भ्रमण ने श्रीरामजी को प्राचीन काल के आश्रमों का कायल बना दिया है, और वे इस बात को भली भाँति समझ गये हैं कि भारतीय संस्कृति का मूलस्रोत कण्व और विश्वामित्र के आश्रमों में ही था । एक जगह उन्होंने लिखा था—

"पड़ाव से पश्चिम की ओर जाने में कोई मगर न मिला। इतने तड़के वसंत-ऋतु में मगर निकलते ही नहीं; पर मुझे तो शिकार के अतिरिक्त सैर और प्रकृति-दर्शन का शौक था। हमारे पूर्वज वन-जीवन-सेवन को जीवन और शिक्षा का मुख्य अंग समझते थे। राजा दिलीप की गोरक्षा में पुत्र की लालसा तो थी ही, पर साथ ही, लाभ में, उन्होंने जीवन के मूलमन्त्र को—सादे जीवन के रहस्य को—सीखा, और उस मंत्र को जब उनके वंशजों ने भुलाया, तभी उनका पतन हुआ। कृष्ण का गाय चराना और ईसा तथा मुहम्मद का भेड़-बकरी चराना गहरे मानी रखता है। मुझ-जैसे क्षुद्र व्यक्ति के लिए भी वन-जीवन बड़ा लाभप्रद है। मैंने मनुष्यों के सामाजिक जीवन की जड़ें पशु-पक्षी-जीवन में पाई हैं। वास्तविक जंगली व्यक्ति का मैं तो कायल हूँ। मैं इस बात को मानता हूँ कि केवल षड्दर्शन से मोहन के दर्शन नहीं होते। मैं तो वर्ड्‌स्वर्थ की इस बात का कायल हूँ कि—

One impulse from vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and of good
Than all the sages can.

पर चाहिए आँखवाला। मैं भी कोई आँखवाला नहीं; पर वह अंधा हूँ, जिसको झाँईं मारती है। पता नहीं, आगे और खुलती हैं या बंद होती हैं।"

निम्नलिखित वाक्यों की सजीवता को देखिये—

(क) "गंगा की सखी–सहेलियों में—सहायक नदियों में—यों तो एक से एक बढ़कर और मदमाती हैं। चढ़ने पर—भरी जवानी—बरसात में उनके आनन्द-विभोर—उल्लास, नखशिख-सौंदर्य, आकर्षक और गजब ढानेवाली चंचलता की कौन प्रशंसा करे! यमुना की ब्रजकेलियाँ, सरयू की अठखेलियाँ, सरस्वती की अगोचरता और गदकारी सोनभद्र का

फहराता हुआ सुनहरा चीर देखते ही बनता है ; पर रामगंगा का भृकुटि-विलास और भाव-भंगी बेजोड़ ही हैं। गंगा महारानी की किसी भी यौवन-मदमाती सखी का यह ताव नहीं कि रिझाने की किसी भी कला में रामगंगा को हरा सके। गात की मझोली, भाव की गम्भीर रामगंगा की छटा को बरेली, मुरादाबाद, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद और हरदोई के जिलों में देखिये। हरित तृणों की झालरदार साड़ी पहने, उभरे गात से फुदकती और मचलती, मुड़-मुड़कर देखती और यौवन-बाढ़ में अनेक मस्त वृक्षों को बहाती रामगंगा एक विचित्र ही नदी है। अनेक मकानों को अपने गर्भ में रखती—भोजन-सा करती—मीलों तक खेतों को जल-मग्न करती, मानवी नयी नवेलियों से होड़ लगाकर वह गंगा से मिलने बढ़ती है। किसी-किसी गाँव के पास तो उसे पीहर की याद आ जाती है, और लौट-लौटकर चक्कर लगाकर—घायल साँप की भाँति पलटा खाकर—कुछ ढूँढ़ती-सी वह अपना मार्ग बनाती और गाँव को प्रायद्वीप बना डालती है।"

(ख) "थके-माँदे शरीर में नींद का नशा आ जाने से रात ढलते फिर आँख खुलने की आशा न थी और पीसने का ढेर रखा था। तोता घास भी न छील पाया था और प्रातःकाल गहरी ओस में घास छीलने का सवाल ही न था, इसलिये आधा काम—पिसाई—करना ही था ; इसलिये चमेली ने अपनी चक्की चलायी। दो टोकनों में गेहूँ भरे रखे थे। चक्की में कौर डालकर उसने पीसना प्रारम्भ किया। मनोव्यथा की उपेक्षा करने के लिये डढ़े को दाएँ और बाएँ हाथ से बारी-बारी से पकड़कर चक्की चलाते हुए उसने गाया—

जंजारी जियरा।

धन्धौ करत जनम योईं गयो।

ऊपर आकाश का पाट अनेक नक्षत्रों से जटित संसार की चक्की अवि-

चलित गति से चला रहा था। कटौरा की दीपावली के दीये अभी बुझे नहीं थे। लोगों ने खील-बताशे अभी चबा नहीं पाये थे।"

(ग) "जॉनी वाकर की बोतल खुली—घच ; और गले के नीचे वह पेय उतरा गटर-गटर। आँखों में सुरूर, चेहरों पर नूर और सामने सब साज-सामान। बस, आज्ञा हुई कि मुजरा जमे। पहले नाच का हुक्म हुआ और परमलू नाच का। उस्तादजी ने पलथी मारे बैठकर हाथ से गति करते हुए बोल कहे—"तक तक तक दिग तक दिग गदि कत जगत कूक तक तक दिग तिं जय तग तराग तग धिलांग धिधि धिन झझन नाड़ धिग झनन ड़ान थू कतत कतत कत गिदिन्नाड़ ता धा।" ता धा की समाप्ति पर चौपाल की धूमिल ज्योति में बिजली-सी चमकी और विद्युत-गति से नर्तकी ने न-मालूम कितने चक्कर काटे और एकदम ऐसे रुकी कि उसकी भाव-भंगी और रुकने से ता धा का ब्रेक लग गया। 'वाह-वाह', 'खूब-खूब' की ध्वनि और सिर झुकाकर प्रशंसा-स्वीकृति के उपरांत गाने का नंबर आया। तबला ठनका 'धा धी धीना नाधी धीना, नातीतीना, नाधीधीना', और हारमोनियम पर उँगलियाँ चलीं स ग म प नि ध नि स स नि ध प म ग रे स और अधखुले नेत्रों, गोरी उँगलियों से लट को सँभालकर तिरछी चितवन और हाथ को आगे बढ़ाकर उसने खम्माच राग में गाया—

"राजा जानी मारो ना नयनवाँ के तीर।"

'वाह-वाह! बढ़ी रहो। क्या कहने!' शराब और गाने में ब्राह्म-मुहूर्त हो गया।"

श्रीरामजी की त्रुटियाँ

हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीरामजी के बाज-बाज स्केच पढ़कर तुर्गनेव की याद आ जाती है। इससे हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नहीं है कि किसी भी अंश में श्रीरामजी की उस अमर कलाकार से तुलना

हो सकती है। ऐसा करना कुफ्र होगा। स्वयं श्रीरामजी संसार के उस सर्वश्रेष्ठ कलाकार का यह अपमान सहन नहीं कर सकते। उनकी सहज विनम्रता इस बात को कल्पना में भी नहीं ला सकती। तुर्गनेव उन दृश्यों से, जिनका वे चित्रण करते थे, अपने को ऊपर उठाकर उनपर एक तटस्थ—निर्लिप्त मनुष्य की-सी दृष्टि डाल सकते थे; पर श्रीरामजी के लिये यह असंभव है। आँखों से जुल्मों को देखते हुए और कुछ अंशों में सहते हुए भी उनके लिए तटस्थ मनोवृत्ति रखना नामुमकिन है।

उच्च कोटि के कलाकार के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि वह उपदेशक या प्रचारक न बन जाय। श्रीरामजी अपनी परिस्थितियों के कारण कला की उस उच्चता को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। अगर उनसे ऐसा कोई कहे भी, तो वे यही जवाब देंगे—"भाड़ में जाय आपकी कला। मैं कलाकार बनने का दावा नहीं करता। जो कुछ दृश्य मैं नित्यप्रति देखता हूँ, उन्हीं का चित्रण करता हूँ। यदि इससे मैं प्रचारक समझा जाऊँ, तो मैं बुरा नहीं मानने का। अन्याय के विरोध में प्रचार करना मैं गौरवजनक ही मानता हूँ।"

जहाँ चंदा चमार जमींदारी-प्रथा की पूतना की कब्र खोद रहा है, वहाँ वे निष्पक्ष दर्शक की भाँति खड़े नहीं रह सकते। खुद फावड़ा लेकर पिल पड़ना चाहते हैं और फिर ऊपर से ऐसी पक्की चिनाई भी करना चाहते हैं कि वह पूतना फिर न उठ बैठे। तुर्गनेव जहाँ इशारा भर करके चुप रह जाते हैं, वहाँ श्रीरामजी को पाठक के दिमाग में कील ठोंककर समझाना पड़ता है। एक और विषय है—जहाँ श्रीरामजी तुर्गनेव से मीलों पीछे रह जाते हैं, वह है प्रेम का विषय। इस विषय में वे बहुत कुछ प्राचीनतावादी हैं और भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के कारण तथा अपने संकोचशील स्वभाव की वजह से 'प्रेम-पयोनिधि' में धँसने की उनकी हिम्मत ही नहीं हो सकती। रस तो क्या, वे रस की भस से भी दूर रहना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि

श्रीरामजी की रचनाओं में वह कोमलता नहीं पाई जाती, जो अनुभवी कलाकारों की रचनाओं में होनी चाहिये। पर कोमलता के इस अभाव ने उनकी रचनाओं को स्त्री-पाठिकाओं के लिए और भी अधिक आकर्षक बना दिया है। 'शिकार' पढ़कर कुछ स्त्रियों ने जो प्रशंसात्मक चिट्ठियाँ शर्माजी को भेजी थीं, उनमें अत्युक्ति-अलंकार की भरमार थी।

श्रीरामजी की लेखन-शैली की लोकप्रियता का एक कारण और भी है, वह यह कि वे अपनी रचनाओं में मुक्त आकाश, स्वतंत्र वायु तथा स्वाधीनताप्रेमी पशु-पक्षियों को खूब ला सकते हैं। लेखक के लिये यह आवश्यक है कि पृथिवी, आकाश, जल, जनसमाज, पशु-पक्षी और वृक्ष इन सबसे संबंध रखे, और जैसा कि हम कह चुके हैं, श्रीरामजी इस बारे में बड़े सौभाग्यशाली हैं। पशु-पक्षियों के विषय में तो इतना ज्ञान बहुत कम हिंदी-लेखकों को होगा। ग्रामों के सजीव शब्दों का प्रयोग भी उनकी लेखन-शैली को मनोरंजक बना देता है। उनकी 'पनपथी' की याद पूज्य द्विवेदीजी भी कर लिया करते हैं, और अभी उस दिन हमें एक ब्रजवासी कविवर का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने श्रीरामजी द्वारा 'धौंजुआ' के प्रयोग पर अपना हर्ष तथा संतोष प्रकट किया था। हमें विश्वास है कि श्रीरामजी इस प्रकार कितने ही ग्रामीण शब्दों को शुद्ध कर भाषा की बिरादरी में मिला देंगे।

आज से कई वर्ष पहले पूज्य द्विवेदीजी के दर्शनार्थ हमलोगों ने दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा की थी। उस समय द्विवेदीजी ने मुझसे कहा था—"चौबेजी, इनसे (श्रीरामजी से) हिंदी लिखना सीखिये।" मुझे इस बात से अत्यंत हर्ष हुआ था (इस खयाल से कि भाषा सीखने के लिए मुझे घर से दूर नहीं जाना पड़ेगा) ; पर श्रीरामजी आचार्यजी की इस प्रशंसा से बिलकुल झेंप गये। पीछे उन्होंने मुझसे कहा—"पूज्य द्विवेदीजी के इस प्रस्ताव को अपने ही तक रखिये।"

मुझे खेद है कि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध इस बात को आज उद्‌धृत कर रहा हूँ; पर साथ ही यह भी कह देना उचित समझता हूँ कि श्रीरामजी की भाषा से कहीं अधिक महत्त्व देता हूँ मैं उनके मनुष्यत्व को। उन-जैसे परदुःख-कातर व्यक्ति हिंदी-जगत् में विरले ही होंगे। यदि चार शब्दों में उनका परिचय देना हो, तो यह कहना काफी होगा कि 'श्रीरामजी मर्द आदमी हैं', और 'बोलती प्रतिमा' के प्रत्येक शब्द के पीछे उसी मर्द का एक अद्‌भुत अक्खड़पन है, खरी आवाज है और एक प्रबल आत्मा है, जो स्पष्ट शब्दों में अन्याय और अत्याचार को निरंतर ललकार रही है।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

डा० श्यामसुंदरदास

चार फीट से कुछ ज्यादा लंबी और तीन फीट से कुछ कम चौड़ी रायबहादुर डाक्टर श्यामसुंदरदासजी की तसवीर कालीचरण हाई स्कूल में मैंने देखी। इसे प्रथम साक्षात्कार समझिये ; गौर वर्ण, उन्नत-ललाट और बड़ी-बड़ी मूछें—भव्य आकृति हृदय-पटल पर अंकित हो गयी। खुले गले के कोट और टाई ने उनके अप टु-डेट होने का संकेत कर दिया। मैंने पढ़ा था—

मातृभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास।
सौम्य, शील-निधान बाबू श्यामसुंदर दास॥

बस ! कविजन-सुलभ नहीं, मनुष्यमात्र की सहज कल्पना से विचार रंगों का उत्सुकता-पटल पर उनका भव्य चित्र खींचता मैं बनारस गया था, आज से पाँच-छः साल पहले, दशहरे की छुट्टियों में। नागरी-प्रचारिणी सभा में मुझे उन दिनों पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी की अनुमति से उनका पत्र-व्यवहार देखना था ; परंतु जहाँ तक मुझे याद आता है उस समय इस उद्देश्य की पूर्ति अथवा अपूर्ति की मुझे उतनी चिंता नहीं थी जितनी उत्सुकता थी बाबूजी के दर्शन की।

सुना था, कालीचरण हाई स्कूल के मास्टरों से कि वे बड़े सहृदय हैं। हमारे स्कूल के एक सहकारी अध्यापक बीमार हुए थे एक बार। तब प्रधानाध्यापक थे, बाबूजी। छुट्टी के लिये परेशान अध्यापक से उन्होंने कहलाया—पंडितजी, खूब आराम कीजिये, निश्चिंत होकर। छुट्टी की परवाह मत कीजियेगा। उसका प्रबंध मैं कर लूँगा।

यह था सहकारी अध्यापकों के प्रति उनका व्यवहार कि चले जाते थे टीचर्स रूम में। काम में व्यस्त किसी अध्यापक के कंधे पर हाथ रखकर खिलखिला पड़ते थे। पूछते थे—कहिये क्या हो रहा है?

विद्यार्थियों के तो वे मित्र से बढ़कर थे। बरामदे में चलते, फील्ड में खेलते विद्यार्थियों की पीठ थपथपा देते थे। मैच में टीम जीतकर आती थी। हरएक खिलाड़ी से कहते थे—पी लो, जितना दूध पी सको।

और बूढ़ा फलवाला हमारा आज भी कहता है—बाबूजी आते थे। कहते थे—चार पैसे का देते हो एक सेव तुम। हमारे यहाँ (काश्मीर में) एक पैसे के चार आते हैं। (हँसकर) एक पैसे की चवन्नी बनाते हो तुम।

सहृदयता, सरलता और निरभिमानता की ऐसी ही बहुत-सी बातें मैं सोचता था और नाचती थी आँखों के आगे टीचर्स रूम में हँसी हुई उनकी तसवीर। गाड़ी भी जा रही थी अपनी पूरी चाल से और मन भी दौड़ रहा था अपनी तीव्र गति से, बाबूजी के दर्शन के लिये।

सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक और फिलॉसफर डाक्टर जानसन के गूढ़, गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेखों का अध्ययन करके उनपर मुग्ध होनेवाले उसके भक्त जब डाक्टर के दर्शन करने जाते थे, तब स्वभावतः अपने साथ अपने मस्तिष्क में डाक्टर की तसवीर ले जाते थे। वे सोचते थे—डाक्टर किसी अलौकिक लोक का कोई दिव्य पुरुष है, जो साधारण मनुष्यों के लोक में नहीं रहता—उनकी तरह नहीं सोचता।

परंतु, जब जानसन के सम्मुख वे पहुँचते थे तब देखते अपनी ही तरह एक दुबला-पतला व्यक्ति, अस्त-व्यस्त साधारण वस्त्र पहने। उस समय उनके आश्चर्य का वारापार न रहता था।

ठीक यही बात मेरे संबंध में भी सत्य हुई जब मैं नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी के आदमी के साथ पहुँचा बाबूजी के दर्शन को। मेरे सामने थी बाबूजी की प्रौढ़ावस्था की वह तसवीर—भरा हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी आँखें, विशाल वक्षस्थल कोट-पैंट-टाई पहने गौर वर्ण का एक अप-टु-डेट साहब जिसे कल्पना ने साकार रूप दे रखा था। परंतु, इसके विपरीत मैंने देखा—वृद्धावस्था की झुर्रियाँ पड़ा हुआ एक मुख, जो भरा न होने के कारण कुछ लंबा-सा मालूम होता था; ऐनक लगाए। मैं पहचान नहीं सका। पीछे हटकर मैंने साथ के आदमी से संकेत से पूछा—कौन हैं? और उसने संकेत से ही उत्तर दिया—यही हैं।

मैंने आगे बढ़कर उनके पैर छुए। उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा—मैं पहचान नहीं सका।

मैंने मास्टर साहब (बाबू कालिदासजी कपूर, वर्तमान प्रधानाध्यापक, कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ) का पत्र दिया। अँगरेजी में उन्होंने मेरा परिचय और वहाँ जाने का उद्देश्य लिखा था। मेरे सौभाग्य से नागरी-प्रचारिणी-सभा के सभापति महोदय पंडित रामनारायणजी मिश्र भी वहाँ बैठे थे। बाबूजी ने पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया। उन्होंने सहर्ष अनुमति दे दी।

मैं बाबूजी की ओर कौतूहल की किसी अज्ञात भावना से ताकता रहा। आत्मविस्मृत-सा होकर देखता था—एक बार उनकी ओर और एक बार पंडितजी की ओर। घूमने लगी मेरी आँखों के सामने फिर बाबूजी की तसवीर। मैं जैसे सोचने लगा—प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में इतना अंतर! सहसा पंडितजी के ये शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा—आप तो सभा के गाँधी हैं।

बाबूजी हँसने लगे। मैंने उनकी ओर देखा और देखीं कमरे की दीवारों में सजी हुई शीशे की अलमारियाँ, जिनके दरवाजे शायद नीले पुते हुए थे। नयी-नयी चमकती हुई किताबें चुनी हुई थीं उनमें। तभी मैंने फिर सुना—जी हाँ, आप सभा के गाँधी ही हैं। इस बार फिर बाबूजी हँस दिये।

सत्य ही, सभा के लिये बाबूजी ने वैसा ही काम किया है जैसा देश के लिये महात्मा गाँधी ने। महात्मा गाँधीजी का कुछ नेतागण विरोध-सा करते जान पड़ते हैं, इसी प्रकार अनेक साहित्य-सेवी भी बाबूजी के विचारों से सहमत नहीं हैं; परंतु न जाने किस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से उनकी सेवाओं का सम्मान करने के लिये झुक ही जाता है उनके आगे हमारा सर, ठीक उसी तरह जैसे गाँधीजी के सामने पहुँचते ही हमारे नेता मंत्र-मुग्ध-से हो सब विरोध भूल जाते हैं।

काशी में साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। बाबू कालिदासजी कपूर के साथ मैं भी गया था। 'द्विवेदी मीमांसा' नामक पुस्तक दो-तीन महीने पूर्व ही छपकर आयी थी। इसे मैंने बाबूजी को ही समर्पित किया था। उद्देश्य दो थे। हमारे स्कूल के वे कई वर्ष तक प्रधान अध्यापक रहे थे। यह गुरु-ऋण स्वीकार करना था। दूसरा उद्देश्य साहित्यिक था। पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संबंध में लिखी हुई किसी भी पुस्तक के समर्पण का अधिकारी, मेरी समझ में बाबूजी के अतिरिक्त दूसरा न था। कृपा करके उन्होंने मेरा निवेदन स्वीकार भी कर लिया था। इस समय काशी जाने का प्रधान उद्देश्य पुस्तक के संबंध में बाबूजी के विचार जानने की इच्छा थी; सम्मेलन देखना गौण था। हमलोग गंगा-स्नान के पश्चात् गीली धोती तौलियों में बाँधे ही बाबूजी के यहाँ पहुँचे। मैंने उनके चरण छुए। वे मुझे पहचाने नहीं। परिचय दिया गया। 'द्विवेदी मीमांसा' के कुछ फार्म ही उन्होंने तब तक देखे थे। तभी वे बोले—पुस्तक में द्विवेदीजी का चरित्र एकांगी है। मैंने

निवेदन किया—जो मसाला मुझे मिला, वह प्रायः प्रशंसात्मक ही था। वे बोले—हाँ, द्विवेदीजी के चरित्र का दूसरा अंग तुम्हें इसमें मिलेगा। यह कहकर उन्होंने अपने हाथ की कापी हमारे सामने फेंक दी। यह बाबूजी की आत्मकथा थी, जो कई महीने तक 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के पश्चात् अब पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो गयी है। मैंने बड़ी उत्सुकता से उसे उठा लिया। इधर-उधर पलटकर देखने के बाद मैंने उनसे पूछा—इसे आप प्रकाशित करेंगे ?

वे बोले—पूरी तो हो चुकी है यह। प्रकाशित भी होगी ही। पर 'कब' के लिये निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकता।

इस समय उन्हें हमारे नहाकर लौटने का ध्यान आया। भाई गोपाललाल को उन्होंने नाश्ता लाने को कहा। 'नाश्ता'···मास्टर साहब ने कुछ कहना चाहा। बस, बाबूजी का स्वर कड़ा हो गया।

बाबूजी के दोनों सुपुत्र आजकल लखनऊ में अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। तीन वर्ष हुए दशहरे की छुट्टियों के एक दिन पहले इसी बहाने मुझे तीन दिन तक बराबर उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बार मैं अधिक निकट से उनके स्वभाव का अध्ययन कर सका। बाबूजी निष्कपट और हृदयवादी हैं। लगी-लिपटी और बनावटी बातें उन्हें जरा भी पसंद नहीं हैं। लोग व्यवहार में इनकी बड़ी आवश्यकता समझते हैं, और लगी-लिपटी और बनावटी बातें कह लेनेवाले को लोग व्यवहार-कुशल समझते हैं। ऐसे लोगों से, चाहे वे कोई और किसी भी पद के हों, बाबूजी बड़ी जल्दी चिढ़ जाते हैं। जिन लोगों ने इधर उनकी लिखी आत्मकथा पढ़ी है, वे उनके चरित्र की इस विशेषता से अवश्य प्रभावित हुए होंगे।

बाबूजी के लखनऊ आने पर पहले दिन जब मैं उनके स्थान पर पहुँचा, तब जाते ही मैंने कहा—मैं प्रेम। बाबूजी ने बीच ही में टोककर कहा—मैं पहचानता हूँ। मैं बैठ गया। कई और सज्जन भी बैठे

हुए थे। तीन-चार घंटे तक बातचीत होती रही। विषय विविध थे। मुझे उनमें कोई पसंद नहीं आ रहा था। बाबूजी इसे समझ गये। बोले—तुम आज बड़े चुप हो! मैं स्वभाव से ही कम बोलता हूँ; फिर गुरुजनों के सामने बोलने का साहस भी नहीं होता। बाबूजी के दर्शन का यह तीसरा अवसर था। परंतु, पहले दो बार जैसे अभिवादन करके ही लौट आया था। इसलिए, मैं समझ नहीं सका कि किस समय की बोलचाल की अधिकता की तुलना करते हुए उन्होंने उक्त प्रश्न किया। मैंने केवल मुस्करा दिया। दूसरे लोग भी मेरी ओर देखने लगे। बाबूजी ने दूसरा प्रश्न किया—क्या लिख-पढ़ रहे हो आजकल? इसी समय कुछ सज्जन चले गये। इसलिए, बाबूजी के संबंध में विशेष बातें जानने की इच्छा से मैंने उत्तर दिया—आपका 'भाषा-रहस्य' देख रहा हूँ। इसका दूसरा भाग कब तक निकलेगा?

मेरा उद्देश्य कुछ व्यक्तिगत बातें जानने का था। बाबूजी शायद यह बात समझ गये और कुछ गंभीर हो गये। मैंने अपना प्रश्न दुहराया। वे धीरे से बोले—भाई, अधिक काम नहीं होता अब। कहाँ से मसाला इकट्ठा हो, कैसे उसे सजाया जाय?

उनका आशय समझकर मैंने फिर पूछा—तो आप सहायता क्यों नहीं लेते किसी शिष्य की? किसी को लिखा दीजिये आप।

परिश्रमशील नवयुवक के अभाव की बात सोचकर वे हँस पड़े। फिर गंभीर होकर उन्होंने कहा—भाई, ऐसा करने में भी बड़ा परिश्रम करना होता है। मुझे तो आशा नहीं है कि इसका दूसरा भाग कभी निकल सकेगा।

मैंने विषय बदल दिया। बाबूजी की आत्मकथा उन दिनों 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगी थी। संभवतः दो अंक निकले थे; उसके संबंध में बात करते हुए मैंने पूछा—कब तक छप जायगी यह?

बाबूजी इस प्रश्न से कुछ संतुष्ट-से हुए बोले—देखो, मैं तो

जल्दी ही चाहता हूँ। साथ-साथ पुस्तक-रूप में छापने को भी प्रकाशक से कह दिया है।

मैंने उनको एक भूली बात-सी याद दिलाते हुए कहा—छप जाय तो मेरा बड़ा काम निकले। मैं 'द्विवेदी मीमांसा' में आवश्यक संशोधन कर सकूँगा।

बाबूजी ने विचारमग्न होकर कहा—हाँ, संशोधन की जरूरत है उसमें। केवल एक स्थान पर तुमने ठीक लिखा है, जहाँ तुम्हारा नोट है—Physician heald thyself. तुम्हारी किताब मैं सारी पढ़ गया हूँ।

मैंने हँसकर हाथ जोड़े। आशय था, बड़ी कृपा की आपने।

स्पष्टवादी बाबूजी को ऊपरी टीमटाम भी पसंद नहीं है। लखनऊ वे आये, परंतु किसी को इसकी सूचना न दी ; अन्यथा लखनऊवालों ने उनका स्वागत करना अपना सौभाग्य समझा होता। यहाँ आकर कान्य-कुब्ज कालेज और विश्वविद्यालय-जैसे सार्वजनिक स्थानों में जाना उन्होंने यही कहकर स्वीकार किया था कि हमारे यहाँ आने की खबर किसी को न दी जाय। लखनऊ विश्वविद्यालय में जाना उन्होंने अपने प्रिय विद्यार्थी डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के अनुरोध से स्वीकार किया था।

चौथी बार बाबूजी के दर्शन फिर लखनऊ में ही किये। मार्च, '४० में वे लखनऊ आये थे। सूचना पाकर अपने एक मित्र के साथ मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। बाबूजी आरामकुर्सी पर लेटे हुए धूप खा रहे थे। 'हमारे गद्य-निर्माता' नाम की मेरी पुस्तक तीन-चार महीने पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी। उसमें बाबूजी की हिंदी-सेवा के संबंध में विद्यार्थियों के लिये कुछ संकेत हैं। भाई गोपाललाल से पुस्तक की

प्रति माँगकर मैंने बाबूजी के हाथ में देते हुए कहा—कोई बात गलत तो नहीं है ?

बाबूजी लेटे-लेटे उसे सरसरी तौर से पलट गये। एक अवतरण की ओर संकेत करते हुए कहने लगे—यह मेरी भाषा का प्रतिनिधि नमूना नहीं है। दूसरे स्थान पर एक वाक्य देखकर बोले—भाई, ऐसी शिथिल भाषा मत लिखा करो।

मैंने 'जल्दी' का बहाना किया। तब वे बोले—जल्दी क्यों करते हो ? मैं तो एक बार लिखता हूँ, उसे ठीक करता हूँ। फिर साफ लिखने के लिये देता हूँ, तब ठीक करता हूँ। दो बार प्रूफ पढ़ता और बड़ी सावधानी से ठीक करता हूँ। अगर कुछ काम करना है, तो तुम भी ऐसा ही करो।

मैं उनकी बात बड़े ध्यान से सुनता रहा। इसके पश्चात् उनके वर्ण-विन्यास-संबंधी सिद्धांतों के विषय में पुस्तक में मैंने अपने विचार लिखे थे। मैंने पूछा—आपका अब भी क्या यही मत है कि अरबी-फ़ारसी शब्दों के नीचे नुक्ता न लगाया जाय ? हिंदी शब्दों के अंतिम 'यी', 'ये' को 'ई', 'ए' से बदल दिया जाय तथा पंचम वर्ण की जगह अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाय ?

उन्होंने कहा—हाँ, इस संबंध में मेरा निश्चित मत है।

मैंने पूछा—परंतु क्या 'सम्मति', 'सम्मान' को 'संमति', 'समान' लिखना प्रचलित हो सकता है ?

बाबूजी—नहीं, ऐसे शब्दों में अनुस्वार लगाने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।

मैं—द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' की भूमिका में तो अनुस्वार देकर ही ये शब्द लिखे गये हैं ?

बाबूजी—यह प्रूफ रीडरों की गलती थी।

इतनी देर बैठे-बैठे बाबूजी थक गये। कुर्सी से उठकर वे पलँग

पर लेट गये। हमने सोचा--शायद ये आराम करना चाहते हैं। अतः, हम विदा हुए।

बाबूजी की हिंदी-सेवा कई मार्गों में भुकी हुई है। उन सबसे परिचित न होने के कारण हम उनकी सेवा का यथार्थ मूल्य नहीं आँक सके हैं। इसलिये, उनका एक विस्तृत जीवन-चरित लिखने की बड़ी आवश्यकता है। संकोची प्रकृति के बाबूजी इसे स्वीकार न करेंगे, परंतु हमें हठ करके इस संबंध में अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये। हिंदी पर उनका जो महान् ऋण है, उसकी स्वीकृति का प्रथम चिह्न हमारी सम्मति में यही है।

—प्रेमनारायण टंडन
